सेवाफलम्

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

ग्रन्थ–परिचय

सेवाफल और उसके विवरणकी रचना श्रीमहाप्रभुने आगरामें विष्णुदास छीपाकेलिए की थी. किंवदन्तीके अनुसार इसका रचनाकाल वि. सं. १५८२ माना जाता हैं [१] वार्तामें एतद्विषयक उल्लेख यों मिलता है:

‘‘सो आगरेके पासके गाममें एक छीपाके घरमें प्रकटे. सो बडे भये, बीस वर्षके, तब ब्याह भयो. सो पिता वस्त्र छाप देय विष्णुदास आगरेंमें जाई बेच लावें। सो ऐसे करत एक समय श्रीआचार्यजी आगरे पधारे. सो विष्णुदास सुन्दर छींटके थान ले आगरे गये. तब श्रीआचार्यजीने कृष्णदाससों कही–‘‘यह छीपाके पास छींट आछी है सो तू ले. जो मांगे सो दे’’. तब कृष्णदासने विष्णुदाससों कही–‘‘यह छींटके थान सगरे हमकों दे। याके दाम हैं सो तू ले’’. सो विष्णुदासने चौगुनौ मोल कह्यो. सो कृष्णदासने सगरे रुपैया गिन दिये. और कहे–‘‘और आछे थान होई सो ले आऊ’’

तब विष्णुदास चक्रत होई रहे जो ए तो बड़े महापुरुष अलौकिक जीव हैं जो मोल न कियो, सगरे थान लिये, ताके दाम दिये सो इनको छींट देनो उचित नहीं है। इनको पैसा मेरे घर आवेगो तो सगरो घर बैरागी होई जायेगो तब विष्णुदासने कही–‘‘ये सगरे अपने रुपैया लेऊ। मेरे छींटके थान फेरि देऊ’’. तब कृष्णदासने कही–‘‘तू बडो मूरख दीसत है ते मोल कह्यो सो दाम दिये। अब यह थान कबहू फिरै नाहीं. तेरे टोटा होई तो और हू रुपैया ले. चौगुने तो दाम लिये

तब विष्णुदासने कही–‘‘तुम महापुरुष हो ताते तिहारो द्रव्य घरमें आये सगरो घर बैरागी होईगो. याते मै तुमको नांही बेचत। जो थान न देहू तो यह रुपैया हू राखो. और थान हू राखो. परन्तु रुपैया तिहारो मोकों पचे नाहीं’’. तब कृष्णदासने कही–‘‘यह थानकी श्रीआचार्यजीने श्रीमुखसों सराहना करिके कहै–‘लेऊ’. सो तू कोटीन उपाय करे तो यह थान फिरै नाहीं और श्रीआचार्यजी बिना सेवक ओरको कछु लेत नाहीं...’’ तब विष्णुदासने कही–‘‘श्रीआचार्यजी कहां हैं?’’

उपनिषद्में ठीक ही तो कहा है कि परमात्मा न तो प्रवचनसे मिलता है, न मेघासे और न बहुश्रुततासे ही परमात्मा कहां है? किसे मिलता है? उत्तर:परमात्मा जिसे खोज रहा हो वहीं परमात्माको खोज पाता है परमात्मा जिससे मिलना चाहता है वही परमात्मासे मिल पाता है–‘‘यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:’’ (कठ। १।२।२३).

[१]वैष्णववाणी (अंक ४ वर्ष १९७९) श्रीनागरदास शास्त्री लिखित लेख।

भारतवर्षकी तीन-तीन परिक्रमाओंमें श्रीमहाप्रभु इन्हीं विष्णुदासोंको तो खोज रहे थे. तभी तो विष्णुदास भी पूछ सके-''श्रीआचार्यजी कहां है?''

निरोधलक्षण ग्रन्थमें कहा गया है कि भक्तोंके बीच भगवान्का इस भूतलपर प्रकट होना करणनिरोध है. प्रपञ्चको भूल कर भक्तोंका भगवान्में आसक्त हो जाना व्यापारनिरोध है. इस प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके व्यापारद्वारा भक्तके देह, इन्द्रिय, अन्त:करण, प्राण, आत्मा सभीसे सर्वत्र-सर्वदा भगवान्के स्वरूप या लीला का निरन्तर अनुभव होना (मानसी सेवा) फलनिरोध है. तदनुसार विष्णुदासकी छींटपर श्रीमहाप्रभुका रीझना करणनिरोध था. विष्णुदासका-''श्रीआचार्यजी कहां हैं?'' पूछना व्यापारनिरोध था. और सेवाके बिना ही विष्णुदासको इस 'सेवाफल' का दान फलनिरोध था ''यमेवैष वृणुते तेन लभ्य: तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्''

जीवात्माका वरण करणनिरोध है और परमात्माद्वारा निजरूपका विवरण फलनिरोध है.

वार्तामें आता है कि ''तब श्रीआचार्यजी श्रीयमुनाजीके तीर पधारी विष्णुदासको न्हवाई नाम सुनाये ब्रह्मसम्बन्ध कराये. विष्णुदासने विनती करी-''महाराज मैं मूरख हों सो ऐसी कृपा करो जो श्रीभागवत आदि आपके ग्रन्थनमें कछु ज्ञान होई, आपके मारगको सिद्धान्त जान्यो जाई''. तब श्रीआचार्यजी 'सेवाफल' ग्रन्थ करी विष्णुदासको सुनाये. सो सुनिके विष्णुदासने विनती करी-''महाराज 'सेवाफल' ग्रन्थके सुनेंते सगरे शास्त्रपुराणको ज्ञान भयो परन्तु 'सेवाफल' ग्रन्थको अभिप्राय समुझिवेमें नाहीं आयो. तब श्रीआचार्यजी कहें-'ग्रन्थ' 'सेवाफल' ऐसो ही कठिन है। भली करी ते पूछ्यो'' पाछे आप 'सेवाफल' की टीका करिके सुनाये. तब सगरे मारगको सिद्धान्त विष्णुदासके हृदयारूढ़ भयो सो मगन होई गये... सो विष्णुदास थोरो सो कपडा छापें सो आगरे बेचि आवें जामे देहनिर्वाह होई. और सगरे दिन-रात मानसी सेवा श्रीआचार्यजीके ग्रन्थ श्रीसुबोधिनीजीके भावमें मग्न रहें''

यह मानसी सेवा परासेवा है, यह सिद्धान्तमुक्तावलीमें कहा गया था. मानसी सेवाकी सिद्धि तनु-वित्तजा सेवा करनेसे होती है, यह भी वहीं कहा गया था. इस पुष्टिभक्तिरूपा सेवाकें अधिकारी पुष्टिजीव ही होते हैं, सभी नहीं, यह पुष्टिप्रवाहमर्यादामें निरूपित किया गया है. सिद्धान्तरहस्यमें पुष्टिजीवोंको पुष्टिभक्तिरूपा सेवामें दीक्षित करनेकेलिए आत्मसमर्पणका प्रकार समझाया गया है। इससे भोगासक्ति पुष्टिभक्तिमें बाधा पहुंचानेमें असमर्थ बन जाती है. नवरत्नमें सेवाको उद्वेगरहित बनानेकेलिए चिन्तात्यागकी बात समझायी गयी है. अन्त:करणप्रबोध, विवेकधैर्याश्रय तथा कृष्णाश्रय द्वारा इसी पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवामें विघ्नरूप उद्वेग एवम् प्रतिबन्धोंसे बचनेके उपाय दिखलाये गये हैं. चतुश्लोकीमें इस सेवाका पुष्टिमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षकी पुरुषार्थचतुष्टयीमें क्या स्थान है यह दिखलाया गया है. भक्तिवर्धिनीमें इस सेवाके बीजभावसे लेकर व्यसनदशातक होते विकासकी रूपरेखा खींची गयी है. सेवाके अनवसरमें चित्तके भगवत्प्रवण बने रहनेमें कोई व्यवधान न आये एदतर्थ जलभेद-पञ्चपद्यानिमें भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तनका स्वरूप समझाया गया है. यह सेवा न निभती हो तो भोगासक्तिपर काबू पानेकेलिए गृहत्याग कर देना चाहिये. यह गृहत्याग व्यसनदशा सिद्ध होनेपर ही करना चाहिये. अन्यथा नहीं. सन्न्यासनिर्णयमें यह सावधानी बरतनेकी सलाह दी गयी है. निरोधलक्षणमें इस सेवाके मानसी सेवाके रूपमें विकासके सहायक कारणोंको परिभाषित किया गया है. अब सेवाफलमें उक्त तनु-वित्तजा सेवाका फलित रूप फलनिरोध अर्थात् अलौकिक-सामर्थ्यके रूपमें दिखलाया जा रहा है. यह परमात्माके भूमारूपमें सकल वृत्तियोंका योजन है. इसे 'सर्वात्मभाव' भी कहते हैं.

समग्र षोडशग्रन्थोंकी एकवाक्यता या आधारशिलाके जैसी केन्द्रीय धारणा, पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थके-''भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टि: नान्यथा भवेत्'', वचनमें श्रीमहाप्रभुने स्पष्ट कर दी है. अतएव षोडशग्रन्थके उपसंहाररूप सेवाफलमें पुष्टिमार्गीय फलसे भिन्न किसी फलका निरूपण स्वीकारनेपर; अथवा पुष्टिमार्गमें भी सेवासे भिन्न किसी कर्तव्य या अवस्थाको पुरुषार्थ या फलरूप माननेपर, उपक्रम-उपसंहार आदि तात्पर्यनिर्धारक अङ्गोंमें परस्पर विसंवाद उपस्थित हो जायेगा. अतएव इस ग्रन्थके उपसंहारमें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं-''कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रम:''.

इस ग्रन्थमें सेवाफलके रूपमें वर्णित 'अलौकिक सामर्थ्य', 'सायुज्य' तथा ''वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेह'' की अनेक व्याख्यायें विभिन्न टीकाकारोंद्वारा दी गयी हैं.

१)ये तीनों फल पुष्टिसर्गके तीन अवान्तर वर्ग पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाहपुष्टि की त्रिविध कक्षाके जीवोंकें फल हैं.

२)तनुनवत्वरूप अलौकिकसामर्थ्य भवगद्विरहकी फलात्मिका अनुभूति है. सायुज्य भगवत्संयोगकी फलात्मिका अनुभूति है. नवतनुत्त्वस्वरूप सेवोपयोगिदेह उभयसाधारण अधिकारकोटीका फल है.

३)अलौकिक सामर्थ्य पुष्टिभक्तिका फल है; तथा सायुज्य और सेवोपयोगिदेह मर्यादाभक्तिके फल है.

४)अलौकिकसामर्थ्य, सायुज्य और सेवोपयोगिदेह क्रमश: उत्तम, मध्यम तथा साधारण कोटीके फल है.

५)संयोगानुभूतिरूप सायुज्य परम फल है। वियोगानुभूतिरूप अलौकिकसामर्थ्य तथा सेवोपयोगिदेह अधिकारसिद्धिरूप अवान्तर फल हैं.

६)अलौकिक सामर्थ्य और सायुज्य पुष्टिभक्तिके फल हैं तथा सेवोपयोगिदेह मर्यादाभक्तिका फल है.

७)अलौकिकसामर्थ्य अति-अन्तरङ्ग सेवाका फल है. अन्तरङ्ग सेवाके द्विविध सायुज्यरूप फल होते हैं:केवल आत्मना अनुभूयमान सायुज्य और अलौकिक, देह, इन्द्रिय, अन्त:करणआत्मना अनुभूयमान सायुज्य. सेवोपयोगिदेह बरिरङ्ग सेवाका फल है.

८)सर्वेन्द्रियोंकी भगवत्परता अलौकिकसामर्थ्य है. देहनाशक विगाढ़भावसे अन्यस्फूर्तिरहित अवान्तर संयोग सायुज्य है. मानसी सेवाकी सिद्धि होनेपर, वैकुण्ठादि भगवद्धामोंमें जैसे देह होते हैं वैसे, सेवोपयोगिदेहकी सिद्धि तृतीय फल है.

भगवान्के द्वारा प्रदत्त भावोंके अनुसार भगवदनुभूतिके अनेक प्रकारोंमें भक्तोंको फलरूपता प्रतीत होती है. अत: सभी व्याख्याकार अपनी-अपनी फलरुचिके अनुसार फलकी व्याख्या करते रहते हैं. इनमें यदि मतभेद दिखलायी पडता है तो वह भी अपनी-अपनी फलरुचिकी मस्तीका मधुर मतभेद है. अत: मतभेद भी फलात्मक है.

ग्रन्थके तात्पर्यका जहां तक प्रश्न है तो वह भागवत (३।५।३२-४०) के नौ श्लोकोंकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने सुस्पष्ट किया ह. वहां भी सेवाफलकी तरह भक्तिके तीन फल दिखलाये गये हैं:जीवन्मुक्ति सायुज्य और वैकुण्ठलोकप्राप्ति.अत: अलौकिकसामर्थ्य और जीवन्मुक्ति को एकरूप मानना चाहिये तथा वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेह और वैकुण्ठलोकप्राप्तिको एकरूप मानना चाहिये; उभयत्र सायुज्य तो समान है ही. इस एकरूपताको निर्धारित करनेके बाद सुबोधिनीमें जो विस्तृत विवरण फलत्रयका दिया है तदनुसार सेवाफल ग्रन्थमें निर्दिष्ट फलत्रयका भी स्वरूपनिर्धारण सुकर हो जाता है.

अलौकिकसामर्थ्य प्रकट होता है, इस भूतलपर भगवत्सेवा करते हुवे, सकल इन्द्रियोंसे भगवदनुभूतिके रूपमें, यही पुष्टिमार्गीय जीवन्मुक्ति है। इसे 'फलनिरोध', 'सर्वात्मभाव', 'व्यसनोत्तर-कृतार्थता', 'तनुनवत्व' या 'मानसीसेवा' कुछ भी कहो, एक ही अवस्थाके विभिन्न पहलुओंका निरूपण है. स्थूल दृष्टिसे शब्दार्थ भिन्न-भिन्न है पर पदार्थ सर्वत्र एक ही है.

भागवतके दशमस्कन्धका वर्ण्य-विषय निरोध है. एकादश स्कन्धका वर्ण्य-विषय मुक्ति है. द्वादशस्कन्धका वर्ण्य-विषय आश्रय ब्रह्मभावापत्ति है. इस स्कन्धत्रयीके विषयक्रम तथा श्रीमहाप्रभुके-''एवं भेदत्रयं निरूपितं सायुज्यं वैकुण्ठ: जीवन्मुक्तिश्चेति'' (सुबो. ३।२५।४०) वचनकी एकवाक्यताको दृष्टिगत करनेपर यहां सेवाफलग्रन्थमें वर्णित फलत्रयका रूप स्पष्टतया निर्धारित हो जाता है. अलौकिकसामर्थ्य फलनिरोध है, इस भूतलपर घटित होनेवाली भक्तोंकी जीवन्मुक्तिकी तरह, जो दशमस्कन्धके भक्तोंके जैसी भगवदनुभूतिका एक अलौकिक प्रकार है. सायुज्य परमात्मामें लय है, विदेहमुक्तिकी तरह, जो एकादशस्कन्धका वर्ण्य-विषय है. वैकुण्ठादिषु-सेवोपयोगिदेह आश्रय-ब्रह्मभावपत्ति है, वैकुण्ठादि दिव्य भगवद्धामोंमें दिव्य देह प्राप्त करके पुन: भगवद्भजनके सुअवसरकी प्राप्ति है, जो भागवतके द्वादशस्कन्धका वर्ण्य-विषय है.

इस तरह तीनोंकी एकवाक्यता निर्धारित हो जानेपर निरोधलक्षण ग्रन्थके बाद सेवाफल ग्रन्थकी क्रमसङ्गति भी स्पष्ट हो जाती है. निरोधकी साधनावस्थाका निरूपण निरोधलक्षणमें अभिलषित है तथा निरोधकी फलावस्थाका निरूपण यहां सेवाफलमें. जैसे सेवाकी साधनावस्था, सिद्धान्तमुक्तावली तथा सिद्धान्तरहस्य में विवक्षित है और सेवाकी फलावस्था यहां सेवाफलमें.

विभिन्न व्याख्याकारोंके इस फलविचारके बारेमें इतने जादा मतभेदका कारण एक मधुर कलह है. पुष्टिभक्तिमें भगवान्की संयोगानुभूति परमफल है कि विरहानुभूति. इस प्रश्नका उत्तर देते समय विभिन्न व्याख्याकार अपनी-अपनी भावरुचिके विवश उलझ जाते है. अत: सेवाफल ग्रन्थके अध्ययनसे पूर्व एतद्विषयक श्रीमहाप्रभु-श्रीप्रभुचरणके मन्तव्योंका अध्ययन उपकारक होगा.

तैत्तिरीयोपनिषद्में ब्रह्मको 'आनन्दमय' (२।५) कहा गया है और 'आनन्द' (३।६) भी। इसी तरह यहीं (२।७ में) ब्रह्मको 'रस' भी कहा गया है-''रसौ वै स:''.. ब्रह्मसूत्रके-''आनन्दमयोभ्यासात्''सूत्रमें दो बातें निर्धारितकी गयी हैं. एक तो 'आनन्द' पदके साथ 'मय (ट्)' प्रत्यय प्रचुरताके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है अत: 'आनन्दमय' का अर्थ होता है:प्रचुर आनन्दरूप। दूसरे 'आनन्दमय' शब्द परमात्माका वाचक है। इन सारी बातोंको लक्ष्यगत करनेपर दो प्रश्न उठते हैं:

१)क्या 'आनन्द' और 'आनन्दमय' शब्द पर्यायवाची होनेपर भी अर्थछायाके

भेदके कारण ब्रह्मके किन्हीं दो रूपोंका निरूपण करते हैं या नहीं?

२)यदि करते हों तो ''रसो वै स:'' वचनद्वारा ब्रह्मके किस रूपको, क्या आनन्दरूपको अथवा आनन्दमयरूपको, 'रस' कहा जा रहा है?

निश्चयेन कहा जा सकता कि श्रुतिका भार परमात्माकी रसरूपतापर अधिक है क्योंकि स्पष्टतया वहां कहा गया है-''रसो वै स: रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवती''.

इस विषयमें श्रीहरिरायचरणकी धारणा है कि परमात्माके बहि:प्रकट साकृति रूपको 'आनन्दमय' कहना चाहिये और भक्तकें हृदयमें प्रकट होती परमात्माके प्रति स्नेहानुभूति या प्रीति को 'आनन्द' कहना चाहिये.

रसशास्त्रमें रति अर्थात् प्रीतिको 'रस' एवम् 'स्थायिभाव' कहा जाता है. जिस व्यक्तिके बारेमें रति या प्रीति होती है उस व्यक्तिको रसशास्त्रमें 'आलम्बनविभाव' कहा जाता है. रसशास्त्रका प्रमुख विवेच्य विषय हमारे प्रमुख मनोभाव, उनके विषय, उद्दीपक, अनुभावक एवम् अङ्गभूत अस्थायी मनोभावोंके स्वरूपोंका निर्धारण हैं. अत: रस अर्थात् स्थायी मनोभावको रसशास्त्रमें धर्मी माना जाता हैं; और इन प्रीति भय क्रोध उत्साह निर्वेद जैसे मनोभावोंके विषय उद्दीपक आदि अन्य सभी अङ्गोंको धर्म माना जाता है.

तदनुसार श्रीहरिरायचरणकी धारणा है कि बहि:प्रकट परमात्माका रूप, क्योंकि भक्तके स्नेहमय स्थायी भावका ही आलम्बनविभागके रूपमें हृदयके बाहर प्राकट्य है अत:, उसे धर्मसहित धर्मी मानना चाहिये। इसके विपरीत भक्तके हृदयमें प्रकट स्थायीभाव, जिसकी स्पष्ट अनुभूति विरहदशामें ही सम्भव है, उसे केवलधर्मी मानना चाहिए, 'एतावान्परं विशेषो यद् बहि:प्रकटं रूपं रसधर्मसहितम् 'आनन्दमय' शब्देनोच्यते, धर्मिमात्रं केवल भाव रूपम् 'आनन्द' शब्देन इति'' (प्रभुप्रादुर्भावविचार) अत: केवल धर्मीको उपनिषद्में 'रस' कहा गया है। श्रीहरिरायचरणके अनुसार 'आनन्द' और 'रस' पर्यायवाची शब्द हैं और 'आनन्दमय' का अर्थ होता है:रसधर्म-आलम्बनविभावहित स्थायिभाव। 'आनन्दमय' और 'रस' पर्यायवाची नहीं हैं.

अणुभाष्यमें परन्तु भाष्यकार किञ्चित् भिन्न प्रकार दिखलाते हैं-''अग्रे 'रसो वै स:' इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्य च स्थायिभावात्मकत्वात् तस्यैव आनन्दमययत्वाच्च'' (अणुभा। ३।३।१५) यहां 'आनन्दमय' और 'रस' को पर्यायवाची माना गया है.

ब्रह्मको आनन्दरूप माना गया है-''आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'' ब्रह्म अपरिच्छिन्नअनन्तपूर्ण आनन्द है, पर भक्तके हृदयमें जब उस परमात्माकेलिए प्रीति प्रकट होती है तो उसके अनुभवका सुख, ब्रह्मकी केवल तत्वानुभूतिसे कहीं अधिक पूर्णतर-प्रचुर होनेके कारण 'आनन्दमय' कहलाता है। अत: भाष्यकारके मतमें 'रस'का पर्यायवाची शब्द 'आनन्दमय' है. तैत्तिरीयोपनिषद् (२।५) में अतएव विज्ञानमयकोशके भीतर आनन्दमयकी उपस्थिति दिखलायी गयी है। इस आनन्दमयकी आत्मा आनन्द है यह-'आनन्द आत्मा' (वहीं) कह कर दिखलाया गया है.

ऐसी स्थितिमें आनन्दको धर्मी मानना चाहिये कि आनन्दमयको? यदि आनन्दको धर्मी मानते हैं तो आनन्दमय धर्म बनेगा और यदि आनन्दको धर्म मानते हैं तो आनन्दमयको धर्मी मानना पडेगा.

हमने देखा कि रसशास्त्र प्रेमको धर्मी मानता है और प्रियतम आदिको धर्म. क्योंकि रसशास्त्र भावविवेचना है और प्रेम एक भाव है. अत: अपने पारिभाषिक अर्थमें प्रियतम रसशास्त्रकेलिए धर्म बन जाता है. क्योंकि प्रियतमके स्वरूप गुणधर्म या विभिन्न प्रकारोंका विवेचन, रसशास्त्रको, प्रेमके जनक और प्रेमके आलम्बन-विषयके रूपमें अभीष्ट है-स्वतन्त्रतया नहीं. भागवतमें भगवान्से भिन्न किसी लौकिक चरित्रके रसात्मक वर्णनका कोई स्थान नहीं है. ऐसे ही ब्रह्मके शुष्क तात्त्विक विवेचनार्थ भी भागवत प्रस्तुत नहीं है. भागवत भगवान्के रसात्मकरूप एवम् लीलाके वर्णनार्थ प्रवृत्त हुयी है. अतएव कभी रसशास्त्रीय परिभाषाओंके सहारे भगवान्के स्वरूप एवम् लीला का वर्णन होता है तो कभी ब्रह्मशास्त्रीय परिभाषाओंके सहारे भी. कभी भक्तोंकी भक्तिके अङ्गके रूपमें भगवान्का वर्णन होता है, तो कभी भगवल्लीलाकें अङ्गके रूपमें भक्त और उनकी भगवद्भक्तिका वर्णन होता है. कभी अतएव भक्तिको धर्मीमान कर तदङ्गभूत भगवान्का धर्मके रूपमें वर्णन होता है (यह रसशास्त्रीय विवेचनशैली है) और कभी भगवान्को धर्मी मान कर उनकी लीलाके अङ्गभूत भक्ति और भक्तों का धर्मरूपेण निरूपण होता है (यह ब्रह्मशास्त्रीय विवेचनशैली है)। इनमेंसे किसी एकतर परिभाषाके अनुसार विवेचनाका हठाग्रह सरस तो हो सकता है पर सर्वांगीण नहीं.

अतएव भागवतानुसारी भगवान्के रसात्मक रूपके निरूपणमें दोनों वर्णनशैलियोंका यथायथ उपयोग अभीष्ट होता है. भक्तोंके प्रियतम भगवान्को कभी 'धर्मी' कहा जाता है और उनके स्वरूप, गुण एवम् लीला के आकर्षणके कारण प्रकट होती प्रीतिको 'धर्म'.

सुबोधिनी (१।१९।१६) में श्रीमहाप्रभुने यह समझाया है:''स्नेह एक विलक्षण पदार्थ है. स्नेहके आधार और विषय दोनों ही भगवान् ही होते हैं. जितना-जितना कोई भगवान्के निकट पहुंचता जाता है, उतना उसमें भगवान्के ज्ञान, ऐश्वर्य आदि गुणोंका सङ्क्रमण भासित होने लगता है, जैसे अग्निके निकट स्थित वस्तुओंमें उष्णता सङ्क्रान्त होती है. इसी तरह जितनी-जितनी निकटता भगवान्के साथ हमारी बढ़ती जाती है, उतनी-उतनी मात्रामें भगवद्धर्म प्रीति भी हमारे भीतर बढ़ती चली जाती है''. प्रीति भगवान्का आत्मरतिरूप धर्म है. पर भगवान्के निकट होनेपर वह हमारे भीतर भी प्रकट होने लगता हैं अतएव श्रीमहाप्रभु कहतें हैं-''प्रीतिस्तु भगवद्धर्म:'' (सुबो। २।२।७)। यह ब्रह्मशास्त्रीय विवेचनशैली है. प्रेम, प्रियतमके कारण, प्रेमीके हृदयमें प्रकट होता है। प्रेमके अति गाढ़ होनेपर, प्रियतमकी अनुपस्थितिमें भी आसक्तिभ्रमन्यायसे, उस प्रेमके कारण प्रियतम भी कभी प्रकट हो सकता है. प्रियतमसे प्रकट होनेके रूपमें प्रेम, धर्म तथा प्रियतम धर्मी माना जाता है. पर प्रगाढ अवस्थामें प्रेमके कारण प्रियतमके प्रकट होनेपर, प्रेम, धर्मी और प्रियतम धर्म बन जाता है। अत: प्रेम और प्रियतम का भेद बड़ा लचीला है-''विरहभावे... तु ज्ञानादिसर्वतिरोधानेन अग्रिमरसानुभवो न भविष्यतीति स्वयमेव (आलम्बनबिभाव एव[1]) तदनुभवात्मको भवतीति ज्ञापनाय विज्ञानरूपत्वमुच्यते. तदनुभवविषय: आनन्दमय: इति तत्स्वरूपमुच्यते. तत्र निरुपधिप्रीतिरेव मुख्या नान्यदिति ज्ञापनाय प्रियस्य प्रधानाङ्गत्वमुच्यते स्थायिभावस्वयंकरूपत्वादात्मत्वमुच्यते। यत: ततएव (स्थायिभावादेव[1]) विभावादि: विविधभावोत्पत्ति:'' (अणुभा। १।१।११)। प्रेम ही जब प्रगाढ़ बन कर प्रियतमके रूपमें बाहर प्रकट हो जाता है तो बहि:प्रकट रूपको 'आनन्दमय' कहा जाता है और अन्त:स्थित प्रेमको 'आनन्द' अन्यथा प्रियतम भगवान् आनन्द हैं और भगवत्प्रेम आनन्दमय.

अणुभाष्य (३।३।१०) में यह कहा गया है कि जैसे तन्तुओंके आतान-वितान बुने जानेपर जो पट प्रकट होता है वह तन्तुओसे भिन्न नहीं होता, इसी तरह आलम्बन विभाव (स्वयम् भगवान्) उद्दीपन विभाव (वेणुनाद आदि) अनुभाव (भूभृङ्गादि) तथा सञ्चारिभाव (मानदैन्यादि) के परस्पर आतानवितानमें जिस स्थायिभाव (भगवत्प्रीति) का प्राकट्य होता है वह स्वयम् भगवान्से भिन्न नहीं होता. अत: आनन्द और आनन्दमय का भेद वस्तुगत न होकर विवक्षागत होता है.

---

१ कोष्ठान्तर्गत शब्द लेखकके हैं.

अवतारकालमें भगवान् अपनी लीलाओंकेद्वारा भक्तोंके हृदयमें अनेक प्रकारके स्नेह प्रकट करते हैं. ऐसे स्नेही भक्त जब भगवद्विरहमें भगवान्के गुणगानमें तल्लीन हो जाते हैं तब हृदयस्थित स्नेह भगवद्विषयक विविध मनोरथोंके सांचेमे ढलकर स्वयम् भगवान् एवम् उनकी लीलाओंका रूप धारण कर लेता है. अनवतारकालमें इसी तरह सेव्य स्वरूप सेवावार्ताके हृदयमें स्नेह प्रकट करते हैं. यह स्नेह भगवत्कथाके श्रवण, कीर्तन, कालमें भक्तके हृदयमें भगवत्स्वरूपानुभूतिका रूप भी धारण कर लेता है.

तामसप्रमेयप्रकरणकी सुबोधिनीमें अतएव भगवान्का स्वरूप 'नटवरवपु' के रूपमें वर्णित हुआ है:

''रसानुभूतिके दो प्रकार सम्भव हैं। प्रथम प्रकार होता है:जहां प्रेम (स्थायिभाव-धर्मी) और प्रियतम (आलम्बनविभाव धर्म) दोनोंकी अनुभूति हो. द्वितीय प्रकार होता है:प्रियतम (आलम्बनविभाव धर्म) अनुपस्थित हो, पर प्रेम (स्थायिभाव धर्मी) की अनुभूति हो रही हो, नाट्यमें, द्वितीय प्रकारसे, केवल रति या प्रेम की ही वास्तविक अनुभूति होती है. प्रियतम-आलम्बनविभावके रूपका तो केवल नाटन ही होता है, साक्षात् उपस्थिति नहीं. संयोगमें आलम्बनविभाव और स्थायिभाव दोनों ही उपस्थित रहते हैं. नेत्रोंके समक्ष बाहर आलम्बनविभावरूप भगवान् उपस्थित होते हैं और हृदयके भीतर स्थायिभावरूप भगवद्रति भी अवस्थित होती है. संयोगलीलामें अतएव 'वर'की तरह प्रत्यग्रभोग माना जाता है; और विप्रयोगलीलामें गाढ स्नेहवश 'आसक्तिभ्रम' की तरह अनुभूत होती भगवदुपस्थिति 'नट' की तरह केवल नाटन मात्र है. अत: नटवत् और वरवत् लीला करनेवाले भगवान्के स्वरूपको 'नटवरवपु' कहा जाता है. क्योंकि शृङ्गाररसके अनुसार प्रत्यग्र साक्षात् सम्भोग जैसे वर-पतिका कार्य है, वैसे ही नाट्यमें सम्भोगका नाटन नट-अभिनेताका कार्य होता है. भगवान् एककालवच्छेदेन उभयविधकार्य सम्पन्न करते हैं. बाह्यमें प्रकट होकर रसानुभव प्रदान करनेका; तथा हृदयमें तीव्र आसक्तिवश प्रकट होती अनुभूतिमें रसाभिनय करनेका भी.

ज्ञानियोंद्वारा उपासनार्थ कल्पित रूप हृदयमें अनुभवसुख प्रदान कर सकता है. पर भक्तोकेलिए तो उनकेद्वारा भावित रूपको धारण कर भगवान् बाहर भी प्रकट होते हैं. सभी इन्द्रियोंसे अनुभूत होनेका सुख भक्तको प्रदान करते है. इस बहि:प्रकट भावित रूपको मायिक कल्पित; या देहदेहिभावन्यायसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपको आवृत करनेवाला कोई भिन्न रूप नहीं माना जा सकता है. यह भावित-बहि:प्रकट रूप उतना ही पारमार्थिक होता है जितने कि स्वयम् परमात्मा'' (सुबो। १०।१२।५).

इस प्रसङ्गमें रसशास्त्रीय रीतिके अनुसार निरूपण किया गया है. अतएव भगवद्रतिकी तुलनामें भगवान्‌को धर्मके रूपमें वर्णित किया गया है. फिरभी लक्ष्यमें रखने लायक बात यहां यह है कि वृन्दावनमें प्रत्यग्रभोक्ताके रूपमें; तथा व्रजकी गोपिकाओंके हृदयमें वृन्दावन की आन्तर लीलानुभूतिके दानद्वारा, रूप एवम् लीला का नाटक करते हुवे, अपना उभयविध (नटवत् और वरवत्) रूप भगवान्‌ने एककालावच्छेदेन प्रकट किया है. भगवान् स्वयम्‌को बहि:प्रकट न करें तो ज्ञानियों और भक्तों के सुखमें कोई तारतम्य नहीं रह जाता है. प्रत्युत भक्तोकेलिए केवल हृदयमें भगवान्‌का अनुभूत होना तो एक दु:खकी बात बन जाती है (हृद्येव प्राकट्ये तु मनोमात्रभोग्यत्वम्। बहि:प्राकट्ये सर्वेन्द्रियभोग्यत्वम्. एवं सति चक्षुराद्यविषयत्वे प्रियपदार्थस्य मनोमात्रविषयत्वं दु:खदमित्यनुभवसिद्धमतो भक्तार्थ तथेति. नतु स भगवान् एव तथा आत्मभिन्नवपुषो भूर्ता इत्यर्थ:. (सुबो. टिप्प. १०।१८।५).

यदि आनन्दको स्थायिभावात्मक आत्मस्थानीय धर्मी माना जाये तो बहि:प्रकट आनन्दमय स्वरूप अर्थात् आलम्बनविभावरूप वपु उस स्थायिभावसे भिन्न नहीं होता. इसी तरह यदि आनन्दको आलम्बनविभावरूप धर्म माना जाये तो भी प्रत्यग्रभोक्ता 'वर' के रूपसे केवल-रसरूप आनन्दमय धर्मी 'नट' रूप भगवान् भिन्न नहीं होते.

''यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्'' (४।१।११) ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें यह कहा गया है कि ''जिन भक्तोंको आन्तर भगवदनुभूति होती है या जिन भक्तोंको बाह्य भगवदनुभूति होती है उनके भाव या अनुभूयमान भगवत्स्वरूपमें किसी भी प्रकारका तारतम्य नहीं होता''. आन्तर-संयोगमें भक्तहृदयस्थित भाव भगवदाकार ग्रहण कर लेता है; तथा बाह्यसंयोगमें भगवान् भक्तके हृदयमें भावाकार ग्रहण करते चले जाते हैं. दोनों ही तरह समानता है.

पुरुषोत्तमकी अनुभूतिसे पूर्व अनिवार्य सर्वात्मभाव, अतएव, वियोगकी तरह भक्त-भगवान्‌के संयोगमें भी स्वीकारा गया है. वेणुगीतकी सुबोधिनीमें सकल इन्द्रियोंके भगवान्‌में विनियोगको सर्वात्मभाव कहा गया है. वाणीसे भगवान्‌के साथ संलाप, नयनोंसे दर्शन, बाहुओंसे भगवान्‌का आलिङ्गन, हाथोसे सेवा, त्वचासे स्पर्श, रसनासे अधरामृतपान, कानोंसे वेणुकूजनका श्रवण, नासिकासे भगवद्‌गन्धका आघ्राण, चरणोंसे भगवान्‌के निकट गमन, अन्त:करणसे भगवत्स्वरूपकी भावना, पायूपस्थेन्द्रियोंसे रोमोद्‌गम और भोग को वेणुगीतमें इन्द्रियवानोंका परमफल माना गया है. सकल इन्द्रियोंके भगवान्‌में ऐसे विनियोगकी तुलनामें मुक्ति तो भक्तोंको अपनी सर्वविध सम्पूर्ण निष्फलता ही प्रतीत होती है.

जैसे किसी नयनवानको सदा-सर्वदाकेलिए अन्धकूपमें धकेल देना या उसे नयनोंसे वञ्चित कर देना दोनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता हैं. जागतिक विषयोंमें अनुरागके नष्ट होनेपर तथा सर्वात्मभावसे सम्पन्न होनेपर भक्तको सकल इन्द्रियोंद्वारा भगवत्स्वरूपानन्दकी अनुभूति मिलती है-''बान्धकानां परित्यागे साधकानां न तद् भवेत्'' (वेणुगीत सुबो. कारिका)

इन कारिकाओंमें संयोगकालीन सर्वात्मभावका वर्णन है. श्रीप्रभुचरण उल्लिखित 'बाधक' का अर्थ प्रापञ्चिक विषयोंमें अनुराग; तथा 'साधक' का अर्थ सर्वात्मभावपूर्वक भजन करते हैं. सर्वभाव सिद्ध होनेपर ही भक्त सायुज्यमुक्ति (भगवान्‌में लीन होने) से बच सकता है. अर्थात् प्रस्तुत सेवाफल विवरणमें विवक्षित प्रथमफल 'अलौकिक सामर्थ्य' के सिद्ध होनेपर ही भक्त, द्वितीयफल 'सायुज्य' से बच सकता है.

तृतीयस्कन्ध-सुबोधिनीके एतद्विषयक विचारोंसे एकवाक्यता करनेपर सायुज्य बाद पुन: नूतन अलौकिक देहकी प्राप्तिका भी एक प्रकार मान्य किया गया हैं. अत: अलौकिक सामर्थ्यके बाद सीधे सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सायज्योपरान्त सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सायुज्य ही केवल, यों फलानुभूतिके अनेक प्रकार सम्भव हैं। परन्तु यह निश्चित है कि इन्द्रियावानोंका मुख्य फल तो सर्वात्मभाव या अलौकिकसामर्थ्य ही है. अन्यथा तृतीयस्कन्धके ''हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुक्ते'' वचनमें निरूपित गौणफलरूप सायुज्य मिलता है। इन्द्रियादिसे रहित होकर भगवान्‌के दर्शन-स्पर्शन-श्रवणादिके सुखसे वञ्चित होना इन्द्रियवान् भक्तोंकेलिए एक विडम्बना है.

भ्रमरगीतके ''सर्वात्मभावोधिकृतो भवतीनामधोक्षजे'' (१०।४४।२७) वचनमें विप्रयोगकालीन सर्वात्मभावका वर्णन है और वेणुगीतमें संयोगकालीन।

यहां यह अवधेय है कि रसशास्त्रीय दृष्टिसे करुणविप्रयोग और शृङ्गारविप्रयोगमें, एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यही है कि जहां पुनर्मिलन निश्चित हो, वहां विप्रयोग शृङ्गाररसात्मक माना जाता है, पर जहां पुनर्मिलन असम्भव हो अथवा जन्मान्तरमें सम्भव हो तो ऐसा विप्रयोग शृङ्गाररस न रहकर करुणरस बन जाता है. ''युनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनरलभ्ये विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्य:'' (साहित्यदर्पण ३।२०९) ''शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रस:, विप्रलम्भे रति: स्थायी पुन:सम्भोगहेतुक:'' (सा. द. ३।२२६)

परमफल संयोगको मानना चाहिये कि विप्रयोगको, इस विवादमें अतिवादी दृष्टिकोण अपनाने पर, या ते अधूरे शृङ्गारकी महत्ता माननी पड़ती हैं या

शृङ्गारविप्रयोग और करुणविप्रयोग के मौलिक भेदकी उपेक्षा हो जाती है. क्योंकि रसशास्त्रमें यह माना गया है कि विप्रयोगके बिना केवल संयोगानुभूतिमें वह चमत्कृति नही आती है. अतएव पूर्वरागोत्तर मानोत्तर और प्रवासोत्तर संयोगमें विशेष चमत्कृतिका हेतु पूर्वराग, मान या प्रवास जनित विप्रयोगको ही माना गया है-''न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते''

श्रीमहाप्रभु भी अतएव जैसे-''बाह्याभावे तु आन्तरस्य व्यर्थता'' का विधान करते हैं वैसे ही-''आन्तरं तु परं फलम्'' भी स्वीकारते ही हैं. श्रीप्रभुचरणने भी अतएव स्पष्ट शब्दोंमें इसका खुलासा-''स रसस्तु संयोगविप्रयोगाभ्यामेव पूर्णो भवत्यनुभूतो नैकतरेण'' (अणु। ४।२।१) कह कर दिया है.

केवल विप्रयोग अथवा केवल संयोग को परमफल मानना भगवान्के 'नटवरवपु' रूपकी अस्वीकृति है. विप्रयोगमें भक्तके हृदयमें भगवान्की आन्तर अनुभूति होती है नटवत्; और संयोगमें भक्तके नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा भगवान्की बाहर अनुभूति होती है, वरवत् श्रीमहाप्रभु किन्तु केवल नटवत् या केवल वरवत् रूपको फल न मानकर 'नटवर वपु' के रूपमें भगवान्को-''इदमेवेन्द्रियवतां फलम्'' स्वीकारते हैं.

लौकिक शृङ्गारमें विप्रयोगकालीन आन्तर संयोगकी अनुभूतिको आसक्तिवश पैदा होती केवल भ्रान्ति ही माना गया है क्योंकि नायक अथवा नायिका की अनुपस्थितिमें उनकी अनुभूति वास्तविक नहीं हो सकती है. किसी भी देश अथवा काल में परन्तु सर्वव्यापी सनातन परमात्माका अनुपस्थित होना अकल्पनीय बात है. अनुभूत होते हों या नहीं पर, हृदयमें और हृदयके बाहर, सर्वत्र-सर्वदा भगवान् तो विद्यमान हैं ही. अतः भगवदनुभूतिपर भ्रान्तिकी परिभाषा लागू ही नहीं हो पाती है

भक्तिके घटक तत्त्व दो माने गये हैं एक माहात्म्यज्ञान और दूसरा सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह. यह माहात्म्य भगवान्का ही हो सकता है कि वे बाहर अप्रकट होनेपर भी भक्तके हृदयमें भावात्मना प्रविष्ट होकर भक्तिको करुणरस होनेसे बचा लेते हैं. इसी तरह सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहमें भी यह सामर्थ्य स्वीकारना पडता है कि उसके वशीभूत होकर भगवान्को भक्तके मनोरथोंके अनुरूप बाहर प्रकट होना पड़ता है.

इस विषयमें श्रीप्रभुचरणकी यह उक्ति मननीय है कि-''भगवद्विरहस्य सर्वसाधारणत्वेपि स्थायिभावात्मकरसरूपभगवत्प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति तस्यैव तदप्राप्तिजः तापः तदनन्तरं नियमतः तत्प्राप्तिश्च भवति'' (अणु। ४।२।११).

भक्तिवर्धिनीमें भक्तिकी चार अवस्था स्वीकारी गयी हैं:

१)बीजभाव

२)प्रेम

३)आसक्ति

४)व्यसन

'भावैरङ्कुरितं' कारिका और उसके व्याख्यानमें, अवतारकालीन सुदृढ सर्वतोधिक भगवद्रति, जो बिना किसी प्रकारके माहात्म्यज्ञानके ही व्रजभक्तोंमें प्रकट हो गयी थी, की चारके बजाय सात अवस्थाओंका वर्णन श्रीप्रभुचरण तथा श्रीहरिरायजी ने किया है: १.भाव, २.प्रेम, ३.प्रणय, ४.स्नेह, ५.राग, ६.अनुराग, ७.व्यसन.

भावैरङ्कुरितं महीमृगदृशामाकल्पमासिञ्चितम्
प्रेम्णा कन्दलितं मनोरथमयैः शाखाशतैः सम्भृतम्
लौल्यैः पल्लवितं मुदा कुसुमितं प्रत्याशया पुष्पितम्
लीलाभिः फलितं भजे व्रजवनीशृङ्गारकल्पद्रुम्।।

(श्रीमत्प्रभुचरण)

भावः प्रेमप्रणयः स्नेहो रागानुरागव्यसनानि।
अङ्कुरकन्दलशाखापल्लवकलिकाप्रसूनफलानीति।।

(श्रीहरिरायचरण)

यह रसशास्त्र और भगवत्शास्त्र के समन्वयपर अवलम्बित भक्तिशास्त्री विवेचन है। अन्यथा केवल रसशास्त्रके अनुसार रतिकी दस अवस्थायें स्वीकारी गयी है:१)चक्षूराग, २)मनःसङ्ग, ३)सङ्कल्प, ४)जागर, ५)तनुता, ६)विषयद्वेष, ७)लज्जात्याग, ८)उन्माद, ९)मूर्छा, १०)मरण. इन्हें भक्तिवर्धिनीमें वर्णित चार अवस्थाओंमें बांट कर देखना हो तो इस तरह देखा जा सकता है:

१)बीजभाव-क)चक्षूराग, ख)मनःसङ्ग, ग)सङ्कल्प.

२)प्रेम-क)जागर, ख)तनुता

३)आसक्ति-क)विषयद्वेष, ख)लज्जात्याग

४)व्यसन-क)उन्माद, ख)मूर्छा, ग)मरण

यहां अवधेय यह है कि व्यसनदशामें उन्माद एवम् मूर्छा तक तो बाह्य या आन्तर संयोगकी अनुभूति सम्भव है. अतएव इन्हें निरोधलीलाके अन्तर्भूत माना जा सकता है. क्योंकि निरोध जब भगवत्स्वरूप एवम् भगवद्गुण उभयकृत होता है तो वह स्वयम् फलात्मक होनेसे अङ्गीरूप माना जाता है. अन्यथा केवल भगवद्गुणकृत निरोध एकादश-द्वादशस्कन्धमें वर्ण्य मुक्तिलीला और आश्रयभावापत्ति की लीलाका अङ्ग होनेसे 'साधनकृत्स्नता' रूप माना गया हैं. मुक्ति या आश्रय लीलाके अङ्गरूप निरोधवाली व्यसनदशामें स्नेहकी दसवी अवस्था मरण सम्भव हो जाती हैं. भक्त इस भौतिक देहको छोडकर या तो भगवान्में लीन हो जाता हैं या फिर नूतन अभौतिक सच्चिदानन्दात्मक दिव्य देह व्यापिवैकुण्ठ-नित्यलीलामें प्राप्त कर लेता हैं-''ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तान् अश्नुते'' (अणु ४।४।५).

इस दिव्य देहान्तरसे लभ्य पुन:संयोगकी भगवच्छास्त्रीय दृष्टिसे बड़ी महत्ता है, मुक्तिके रूपमें. रसशास्त्रीय दृष्टिसे किन्तु देहान्तरलभ्य संयोग शृङ्गाररसकी मर्यादासे बहिर्भूत या विपरीत है. अतएव भक्तिशास्त्रमें ऐसे संयोगकी फलरूपता गौण मानी गयी है-''भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद् भुवि'' (पु. प्र. म.) वचनमें भूतलपर ही आविर्भूत भगवान्को पुष्टिफल मानकर. अतएव भक्तको मुक्ति या आश्रय लीलाकी ओर हठात् ले जानेवाली भक्तिका वर्णन स्वयम् भगवान्ने इन शब्दोंमें किया है-''अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते'' भ्रमरगीतपर टिप्पणीमें श्रीप्रभुचरण ऐसी भगवल्लीलाको-''अस्मदधिकारविरुद्धा कहते हैं.

सङ्क्षेपमें १.अलौकिकसामर्थ्य सर्वात्मभावरूप होनेके कारण संयोग या वियोग दोनों अवस्थाओंमें फलनिरोधरूप है। इसे 'तनुनवत्व' या 'मानसी सेवा' भी कहा जा सकता है पुष्टिभक्तोंकेलिए यह जीवन्मुक्तिके जैसी अनुभूति है २.सायुज्य विदेहमुक्ति है, पुरुषोत्तममें लीन हो जाना. ३.वैकुण्ठ आदि लोकोमें सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति नवतनुत्व है. इसे 'ब्रह्मभावापत्ति' या 'आश्रयभावापत्ति' भी कहा जाता है.

समग्र षोडशग्रन्थमें प्रस्तुत सेवाफल ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुके स्वयंकृत विवरणके बावजूद अति क्लिष्ट और सूत्रात्मक भाषामें लिखा गया ग्रन्थ है. छन्दशास्त्रकी दृष्टिसे वैसे तो इस ग्रन्थमें साडे सात कारिकायें हैं, पर वाक्यार्थबोधका दृष्टिसे वाक्यविमर्श करनेपर इसमें पन्दरह सूत्रात्मक वाक्य दृष्टिगोचर होते है। पाणिनीसूत्रोंकी तरह बहुधा इनमें भी-''सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र'' नियम लागू होता दिखलायी देता है. तदनुसार उन्हें पृथक-पृथक् करके देखनेका प्रयास अब हमें करना है. इसमें दो-तीन तत्व मार्गदर्शक मानने पडेंगे. उदाहरणतया पूर्ववाक्यके किसी अंशसे उत्तरवाक्य पूर्ण होता हो तो उसे पूर्ण कर लेना चाहिये. सेवाफलविवरणमें स्वयम् श्रीमहाप्रभुने जिस अस्पष्ट शब्दका जो अर्थ दिया हो उसे कोष्ठकमें रखकर उस अर्थको स्फुट या पूर्ण कर लेना चाहिये. कभी साकाङ्क्ष पदोंकी आकाङ्क्षापूर्तिकेलिए कोष्ठकमें सम्बन्धघटक सर्वनामादिपदोंका विन्यास भी किया जा सकता है. तदनुसार प्रथम वाक्य तो एकदम स्पष्ट ही मिल जाता है:

१)यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते:

सिद्धान्तमुक्तावलीके-''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा'' वचनमें, चतुश्लोकीके-''सर्वदासर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप: स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य: क्वापि कदाचन'' वचनमें; तथा भक्तिवर्धिनीके-''बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मत: अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि:'' वचनमें सेवाका जो स्वरूप समझाया गया, उसके सम्पन्न होनेपर सेवाकी फलरूपताका स्वरूप यहां समझाया जा रहा है.

२)अलौकिकस्य दाने हि चाद्य: सिध्येन्मनोरथ::

आद्य ग्रन्थ यमुनाष्टकके सातवेंश्लोकमें वर्णित-''ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये'' प्रार्थनामें व्यक्त हुवे मनोरथकी सिद्धि, जब भगवान् अलौकिकसामर्थ्यका दान करते हैं तभी सम्भव है. अन्यथा अलौकिकसामर्थ्यके दानके अभावमें भगवत्सेवापरायण भक्त या तो पुरुषोत्तममें लीन हो जाता है; या फिर वैकुण्ठ आदि भगवद्धामोंमें, भौतिक देहके छूट जानेके बाद, अलौकिक दिव्य सेवोपयोगिदेह प्राप्त कर लेता है.

३)अत्र (सेवायां) **फलं** (अलौकिकसामर्थ्यं) **वा, अधिकारो** (सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु) **वा** (भवतु) **काल: नियामक: न** (भवति).

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें यह कहा गया था कि पुष्टि जीवोंको उनका फल भगवत्स्वरूपमें ही मिलता है-''कायेन तु फलं पुष्टौ'' वही यह भी कहा गया था कि ''भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद् भुवि, गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्'' अर्थात् यथाधिकार हृदयमें भगवद्गुणोंका अथवा नयनोंके समक्ष साक्षात् भगवत्स्वरूपका इस भूतलपर प्रकट होना पुष्टिजीवोंकी फलानुभूति है। भगवान् ही जब फल हों; और वे यदि काल-कर्म-कर्ता-मन्त्र-द्रव्य-देश-स्वभाव आदि हेतुओं अथवा साधनोंके अधीन न हों तो, पुष्टिमार्गीय फलात्मिका सेवा अथवा अधिकारात्मिका सेवाका नियामक काल कैसे हो पायेगा?

अलौकिकसामर्थ्य या तनुनवत्व के साथ भगवत्सेवा सम्पन्न हो पाती हो तो वह सेवाकी फलरूपता हैं. अन्यथा वह न होनेपर सेवाके कारण पुरुषोत्तममें सायुज्य या वैकुण्ठ आदि भगवद्धामोंमें सेवोपयोगी नूतन दिव्य देह प्राप्त होता है, भगवत्सेवा करनेवाले भक्तके भौतिक देहके छूटनेके बाद. अत: ऐसी भगवत्सेवा फलरूपा न होकर अधिकाररूपा मानी जाती ह.फल हो या अधिकार, पुष्टिभक्तिमें भगवान् ही नियामक है, काल-कर्म-स्वाभावादि नहीं.

४) (सेवायां) **बाधकं तु उद्वेग: प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्, भगवत: अकर्तव्यं चेद्।:**

काल-कर्म-स्वभाव यद्यपि फल या अधिकार में नियामक नहीं हैं, फिर भी फलदान या अधिकारसम्पादन की भगवदिच्छाके न होनेपर भगवत्सेवामें उद्वेग प्रतिबन्ध अथवा भोग बाधक बन सकते हैं.

जैसे फल तीन माने गये हैं, सेवामें, ऐसे ही विघ्न भी तीन ही माने गये हैं. इनमें उद्वेग के अनेक रूप नवरत्न एवम् विवेकधैर्याश्रयमें दिखलाये गये हैं. वहां आश्रयभावकी दृढताकेलिए अष्टाक्षरका उच्चारण तथा लीलाभावना की बात समझायी गयी है. अतएव उद्वेग और उससे वचनके उपायके बारेमें अब पुन: यहां किसी निरूपणकी आवश्यकता नहीं है. अत: इस सेवाफलके विवरणमें प्रतिबन्ध एवम् भोग रूप विघ्नोंका विचार होगा.

प्रतिबन्ध दो प्रकारके होते हैं:एक साधारण और दूसरा भगवत्कृत. साधारण प्रतिबन्धोंका निवारण लोकचातुरीसे करना चाहिये.

श्रीप्रभुचरणने अपने आत्मजोंको लिखे एक पत्रमें ऐसी लोकचातुरीका उपदेश दिया है ''अन्यच्च यवनादयो ठाकुरद्वारे आगच्छन्ति यथापूर्वं भाषणमिलनप्रसादादिकं कार्यम् यद्यपि हार्द न भवति, बाह्यतोपि कार्यम्'' ऐसी लोकचातुरीका प्रयोजन निर्विघ्न भगवत्सेवाका निर्वाह ही होना चाहिये. आत्मसम्मानको खोकर सरकारी अफसरोंकी चापलुसीका नहीं। अतएव इसी पत्रमें सावधान भी किया गया है- ''सावधानै: सहपरस्परस्नेहै: अबहिर्दृष्टिसेवकपरै: स्थेयम्''.

भगवत्कृत प्रतिबन्धका निराकरण जीवके सामर्थ्यके बाहर होता है. अत: उसका विचार बादमें किया जायेगा. इसी तरह द्विविध भोगका विचार भी आगे किया जायेगा.

५)**भगवत: सर्वथा अकर्तव्यं चेद्** (भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध: तदा) **गति: न हि** (भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यं, तदा अन्यसेवापि व्यर्था, तदा) **यथा वा तत्त्वनिर्धार** (आसुरोयं जीव इति) **विवेक:** (तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यमिति, अन्यथा) **बाधकानां** (त्रयाणां साधन) **परित्याग:** (कर्तव्य इति) साधनं मतम्.

पुष्टिमार्गीय जीव दैवी होनेके कारण कभी प्रवाहमार्गीय या आसुरी सृष्टिका हो नहीं सकता. फिर भी यह सम्भव है कि उसके देह-इन्द्रिय-प्राण-अन्त:करणमे किसी समय या किसी जन्ममें आसुरभावोंका आवेश हो जाये. अतएव पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें-''आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित्'' के द्वारा पुष्टिजीवोंमें आसुरावेशके कारणरूपमें भगवदिच्छाको मान्य किया गया है। सुबोधिनी (३।२५।३२) में-ये वा देव्यां सम्पदि जाता: तेषामपि (इन्द्रियाणि) देवरूपाणि भवन्ति आसुराण्यपि भवन्ति'' कहा गया है. वहीं यह भी कहा गया है कि ''भक्तिदेवैरेव भवति नासुरै:'' अत: जिस जन्ममें पुष्टिभक्तके देहेन्द्रियादिमें दैवी गुणोंका आवेश प्रबल नहीं होता, उस जन्ममें पुष्टिप्रभु, उस जीवसे फलात्मिका सेवा लेना नहीं चाहते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये। ऐसी स्थितिमें अन्य कोई रह नहीं जाता, जिसके आश्रय या भजनसे भगवत्सेवामें पैदा होनेवाले विघ्न दूर हो पायें, या अन्य कोई उपाय शक्य बन पाये। अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं-''तदा अन्यसेवापि व्यर्था''

भगवन्मार्गमें भगवदिच्छाके बिना कोई विघ्न आ नहीं सकते और भगवदिच्छाके कारण आये हुवे विघ्नोंको कोई दूर नहीं कर सकता है. नवरत्नमें अतएव कहा गया है कि ''अज्ञानादथवा ज्ञानात्कृतमात्मनिवेदनं यै: कृष्णसात्कृतप्राणै: तेषां का परिदेवना'' अत: पुष्टिजीवको जब प्रभु संसारासक्तिमें फंसाये रखना चाहते हों तो अन्याश्रय या अन्यभजन से कुछ भी प्राप्त हो नहीं पायेगा.

तत्त्वदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणमें ''कृष्णपदेन बहिर्भजनमेव मुख्यमिति निरूपितं ''यो वेद निहितं गृहायाम्'' इति तु ज्ञानमार्गे'' (कारिका १३) कहा गया है. भागवतार्थ प्रकरणमें भी भगवदवतारकालीन भजनका विकल्प ज्ञान माना गया है-''पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत् परिवर्तते'' (१०।१११-११३). भक्तिवर्धिनी (४) में भी ''व्यावृत्तिपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा'' कहा है. इसी तरह ''सेवायां वा कथायां वा।।'' कारिकामें 'सेवा और कथा' को उत्तमकल्प माना गया है, तथा 'सेवा या कथा' को गौणकल्प माना गया है. अणुभाष्य (४।१।८)में-''एवं बहि:प्राकट्यमुक्त्वा आन्तरं तदाह। भावनौत्कट्यदशायां व्यभिचारिभावात्मकसततस्मृतिरूपध्यानादपि हृदि प्रकट: सन्नासीनो भवतीत्यर्थ:'' कहा गया हैं.

इन सभी उद्धरणोंपर लक्ष्यपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सेवाफलमें वर्णित 'ज्ञानमार्ग' मर्यादामार्गीय ज्ञानवाला नहीं है, किन्तु पुष्टिमार्गीय ज्ञानको लेकर ही यहां 'ज्ञानमार्ग' शब्द प्रयुक्त हुआ है. पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवा भक्ति है

तथा भगवद्गुणगान या भगवत्कथा ज्ञान है. भगवद्गुणगानुवादकी प्रणालीसे हृदयमें सतत भवगद्ध्यान या भगवत्स्मृति को बनाये रखना 'ज्ञान' कहलाता ह.निरोधलक्षणमें-''गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिण: संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम्'' कहा गया है. अत: भगवान्के गुणानुवादसे 'शोकाभाव' सिद्ध होता है। यह पुष्टिमार्गीय विवेक है.

जिनसे यह कथात्मिका भक्ति भी न निभती हो, उनकेलिये विवेकधैर्याश्रय तथा कृष्णाश्रयमें प्रपत्तिमार्गका निरूपण किया गया है-''अलौकिकमन:सिद्धौ सर्वथा शरणं हरि, एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्'' (विवे।१३). इसी तरह ''अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थित: ज्ञापिताखिलमाहात्म्य: कृष्ण एव गतिर्मम... विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषत: पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम'' (कृष्णा। ७ और ९) कहा गया है.

पूर्णभक्तिके दो अङ्ग माने गये हैं:एक बाह्य अङ्ग माहात्म्यज्ञान और दूसरा आन्तर अङ्ग सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह. अत: सुदृढ सर्वतोधिक स्नेहके बिना सेवा-कथाका निर्वाह शक्य नहीं होता. फिरभी माहात्म्यज्ञानपर अवलम्बित शरणागति-आश्रय-प्रपत्तिरूप उपाय शक्य हो तो उसे अपनाना चाहिये. अतएव माहात्म्यज्ञानमूलक होनेके कारण प्रपत्तिमार्गको भी पुष्टिमार्गमें ज्ञान माना जाता है.

प्रतिबन्ध जो भगवत्कृत प्रतीत न होते हों पर हमें पुष्टिभक्तोचित विवेक या धैर्य से वञ्चित करते हों तो, उनसे बचनेके अनेक उपाय नवरत्न तथा विवेकधैर्याश्रय में दिखलाये गये है. यथा प्रार्थनात्याग, अभिमानत्याग, हठत्याग, अनाग्रह, सहिष्णुता, असामर्थ्यभावना, भगवल्लीलाभावना, मनवाणीसे सतत शरणभावना, अन्याश्रयत्याग, दृढ विश्वास तथा प्राप्त सुख-दु:खकी ममताद्वेष रहित स्वीकृति आदि.

उद्वेगके हेतुओं, साधारणप्रतिबन्धके हेतुओं तथा लौकिक भोगके हेतुओंका त्याग करनेपर सेवाका निर्विघ्न निर्वाह सुकर बन जाता है. उद्वेग और उसके विभिन्न हेतुओंके निवारणका उपाय नवरत्न ग्रन्थमें समझाया गया. साधारण प्रतिबन्ध तथा उसके हेतुओंके निवारणका उपाय विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें समझाया गया है। अब लौकिक क्षुद्र भोग और अलौकिक महान् भोगका प्रभेद तथा अन्य भी तत्सम्बन्धी विवेचन आगे किया जायेगा.

६) भोगे अपि बाधकानां परित्याग: एकं साधनं मतम्।:

भोग दो तरहके सम्भव हैं:एक लौकिक भोग और दूसरा अलौकिक भोग। लौकिक भोग त्याज्य होता है। भगवान्को असमर्पित-अनिवेदित वस्तुओंका उपभोग भगवत्सेवामें बाधक बनता है। यह सिद्धान्तरहस्य (कारि।४) में-''अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्ति: कथञ्चन, असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्'' कह कर समझाया गया है। अत: असमर्पित-अनिवेदन वस्तुओंका उपभोग बाधक है ओर उनका परित्याग हमारे लिये एक साधनके रूपमें कर्तव्य है।

७) तथा भोगे परं निष्प्रत्यूहं साधनम् अपि मतं (यत:) महान् (अलौकिकस्तु) भोग: (फलानां मध्ये) प्रथमे सदा विशते (प्रविशति).

सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थमें जैसे असमर्पितके त्यागकी बात समझायी है, उसी तरह समर्पितके उपयोगकी आवश्यकता भी दिखलायी गयी है-''निवेदिभि: समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति.... सेवकानां यथा लोके व्यवहार: प्रसिद्ध्यति तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता तत:'' भगवान्को समर्पित भगवत्प्रसादरूप स्रक्, गन्ध, वस्त्र, अलङ्कार, अन्न, गृह तथा परिवारिक जन, सांसारिक मोहके नहीं, किन्तु भगवद्भावके वर्धक होते हैं. ब्रह्मको समर्पित सभी कुछ ब्रह्मात्मक हो जाता हैं. जैसे गन्दी नालीका जल गङ्गामें मिल कर गङ्गाजल बन जाता है. अणुभाष्य (३।३।३९) में अतएव कहा गया है-''सर्वनिवेदनपूर्वकं गृद्देषु भगवत्सेवां कुर्वतां तदुपयोगित्वेन तेभ्यएव मुक्ति: भवतीत्यर्थ: एतादृशानां गृहा भगवद्गृहा एव आदिपदेन स्त्रीपुत्रपश्वादय: सङ्ग्रह्यन्ते एतेन ज्ञानादिमार्गादुत्कर्ष उक्तो भवति. बाधकानामपि साधकत्वात्'' अन्यमार्गमें भोगके साधन अन्नवस्त्रगृहपरिवार आदि बाधक माने जाते हैं, पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवाके अङ्ग बन जानेपर, इन्हें साधक माना जाता हैं। क्योंकि वे लौकिक आसक्तिको बढ़ानेके बजाय शनै:शनै: हमें अलौकिकसामर्थ्य अर्थात् सर्वेन्द्रियोंकी भगवत्परताकी ओर ही ले जानेवाले बनते है। निरोधलक्षण ग्रन्थमें इसे-''संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्'' कहा हैं.

भगवन्निवेदित वस्तुका भगवत्प्रसादके रूपमें उपभोग, सेवाके प्रथम फल अलौकिकसामर्थ्यको प्राप्त करनेकी दिशामें अग्रसर होना हैं। अत: वह अलौकिक भोग होनेसे निष्प्रत्यूह निर्दुष्ट है, महान् है.

८) सर्वविघ्न: अल्पो (भोग:) बलात् घातक: स्यात्:

''यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्'' (छान्द। व ७।२४।१) इस श्रुतिमें मर्त्यत्वेन निन्दित अल्पभोगका परिहार भगवत्समर्पितके उपभोगसे शक्य बन जाता है. अतएव छान्दोग्योपनिषद्के इसी प्रकरणमें-''आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि:

सत्त्वशुद्धौ: ध्रुवा स्मृति: स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विमोक्ष: (७।२६।२) वचनद्वारा आहारशुद्धिके उपलक्षणसे प्रत्येक भोगकी शुद्धिकी आवश्यकता दिखलायी गयी है, मर्त्य-अल्प-क्षुद्र लौकिक भोग कभी शोकमोहसे रहित नहीं होता है. अत: अनेकविध शोकमोहरूप विघ्नोंसे युक्त अल्प भोग स्वयम् मर्त्य होनेपर भी मारक होता है. भगवत्सेवोचित भावका बलवान् घातक होता है. अत: लौकिक भोग त्याज्य है.

९) बलाद् एतौ (प्रतिबन्धको) सदा मतौ:

भक्तिवर्धिनी (६) में कहा ही गया है कि ''तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्'' अत: लौकिक भोग और भगवत्कृत प्रतिबन्ध भगवत्सेवामें बहुत बलवान् प्रतिबन्धक सदा होते हैं. इनमें लौकिक भोगका त्याग तो शक्य है पर भगवत्कृत प्रतिबन्धका निवारण शक्य नहीं है यह अब आगे कहा जायेगा.

१०) द्वितीये (भगवत्कृत-प्रतिबन्धे ज्ञानस्थित्यभावेच) संसारनिश्चयात् चिन्ता सर्वथा त्याज्या।:

सर्वनिर्णय-प्रकरण (कारिका २४७) में यह दिखलाया गया है कि किन-किन स्थितियोंमें भगवत्सेवा छोड देनी चाहिये। यथा-

क)आसुरावेशके कारण हमारी इन्द्रियोंकी भगवत्सेवामे स्वत: प्रवृत्ति सम्भव न लगती हो तो हठपूर्वक उन्हें भगवत्सेवामें लगानेपर विक्षेप उत्पन्न हो जाता है. ऐसी स्थितिमें सेवा छोड देनी चाहिये.

ख)अतिवार्धक्य या शारीरिक व्याधियोंके कारण किसी व्यक्तिमें भगवत्सेवार्थ अपेक्षित शक्ति न रह जाती हो तो सेवा छोड देनी चाहिये.

ग)पारिवारिक सामाजिक या राजनैतिक दृष्टिसे जिनके अधीन होनेके कारण हम विवशतया भगवत्सेवा न कर पाते हों तो वह भी एक प्रतिबन्धक सेवामें सम्भव है.

घ)सेवा करते रहनेपर भी निरन्तर चित्तमें अन्यव्यासङ्ग या व्यग्रता बनी ही रहती हो तो भगवत्सेवोचित भावना हृदयमें कदापि प्रकट नहीं हो पाती.

ङ)अन्य पारिवारिक जन भगवत्सेवार्थ अपेक्षित भावनासे रहित हों, या भगवत्सेवामें प्रतिकूल हों, पर वे हमारे द्वारा की जाती भगवत्सेवामें लौकिक हेतुओंके वश सहयोग देनेको बाधित होते हों तो, उन्हें वह सेवा पीडानाशक प्रतीत होगी. ऐसी परपीडाजनक भगवत्सेवा नहीं करनी चाहिये.

श्रीमहाप्रभु स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा करते हैं कि इन स्थितियोंसे सेवा छोड देनी चाहिये. सेवा छोड देनेपर उसका अनुकल्प भगवत्कथा माना गया है. कथानुष्ठान पुष्टिमार्गमें भक्तिकी ज्ञानमार्गसे जुडी हुई सीमाकी तरह हैं. परन्तु यहां इस सीमाके भीतर भी रहना जो शक्य न हो तो माहात्म्यज्ञानमूलक प्रपत्तिमार्गमें अवस्थित होना चाहिये. एतदर्थ विवेक, धैर्य और आश्रय को अपनानेकी बात समझायी गयी है. पर जब वह भी शक्य न हो तो समझ लेना चाहिये कि इस जन्ममें प्रभु हमें संसारावेशसे छुटकारा देना नहीं चाहते हैं.

विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें अतएव-''अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरि'' कहकर तथा नवरत्न ग्रन्थमें-''चित्तोद्वेगं विधायापि हरि: यद्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्, तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्ण: शरणं मम वद्‌द्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मति:'' (८-९) के उपदेशके अनुसार चिन्ताका त्याग कर शरणभावना करनी चाहिये.

११) नाद्ये (आद्यफलाभावे) तु (भगवत: आधिदैविकसेवा) दातृता नास्ति:

सेवा निरन्तर करते रहनेपर भी अलौकिकसामर्थ्यके प्रकट होनेके कोई चिन्ह दिखलायी न पडते हो तो सेवाकी न्यूनता नहीं मान लेनी चाहिये. किन्तु भगवान्‌की आधिदैविकी सेवाके सुखदानकी इच्छा नहीं हैं, ऐसे समझना चाहिये. आधिदैविकसेवा सुखकी पात्रता भगवान्‌की दातृतापर अवलम्बित है। यह तो कहा ही गया है कि पुष्टिमार्गीय फल या अधिकार की प्राप्ति भगवान्‌के देनेपर ही होती है, साधनाभिमानसे नहीं.

१२)तृतीये (भोगाभाव-सिद्धयभावे) तु गृहं बाधकम्:

स्वगृहमें निरन्तर सेवा करते रहनेपर भी भोगाभाव यदि सिद्ध न होता हो तो गार्हस्थ्यगृहको ही बाधक समझना चाहिये। अतएव भक्तिवर्धिनी और सन्न्यासनिर्णय ग्रन्थोमें, ऐसी स्थितिमें, कथाश्रवण परिचर्या या गृहत्याग के अनुकल्पोंको अपनानेकी बात समझायी गयी है.

१)इयं (भगवतो दातृता) अवश्या सदा भाव्या, अन्यत्सर्वं मनोभ्रम:, तदीयैरपि तत् (दातृताभावनं) कार्यं (यतो भगवान्) पुष्टौ नैव विलम्बयेत्.:

नवरत्न ग्रन्थमें कहा गया था कि आत्मनिवेदन करनेवाले पुष्टिभक्तको कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. क्योंकि पुष्टिप्रभु भगवान्, किसी एकाद् जन्ममें लौकिक स्थिति जैसी स्थिति जैसी स्थिति पुष्टिजीवकी करते भी हों, परन्तु गति

कभी लौकिक या प्रावाहिकी नहीं करेंगे. अत: भक्तिके भलीभांति निर्वाह न होनेकी स्थितिमें अन्य पुष्टिमार्गीय भगवदीयोंके साथ बैठकर अपने आत्मनिवेदनका स्मरण-भावन करना चाहिये. ''भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गति, निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशै: जनै: सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छात: करिष्यति'' (१-२).

होता वही है जो भगवदिच्छा होती है. मिलता वही है जो भगवान् हमें देना चाहते हैं. भगवान्की फलदानेच्छा किसीके बसकी बात नहीं है। वह 'अवश्या' है. उसपर किसीका जोर नहीं चलता है. भगवान् परन्तु दयालु भी हैं वे केवल सर्वेश्वर ही नहीं अपितु सर्वात्मा भी हैं. अत: जिस जीवका पुष्टिमार्गमें वरण भगवान्ने कर लिया हो उसे पुष्टिभक्तिके दानमें अधिक विलम्ब नहीं करेंगे. इस तरह भगवान्के पुष्टिफलदाता होनेकी भावना सदा करनी चाहिये.

साथ ही साथ निरोधलक्षण ग्रन्थमें यह भी कहा गया था कि ''महतां कृपया यावद् भगवान् दययिष्यति, तावदानन्दसन्दोह: कीर्त्यमान: सुखाय हि'' अत: जिनसे सेवा आदि न निभ पाती हो ऐसे दयनीय पुष्टिजीवोंके प्रति अन्य भगवदीयोंका भी यह कर्तव्य है कि वे भगवान्के ऐसे गुणों एवम् चरित्रोंका कीर्तन करें कि जिससे साधारण पुष्टिजीवोंके हृदय और बुद्धिमें भगवान्के पुष्टिफलदाता होनेकी आस्था एवम् धारणा दृढ हो जाये. यह जिससे सेवाकथामय आदर्श जीवन निभ पाता हो ऐसे एक पुष्टिजीवका दूसरे, जिससे नहीं निभ पाता, उसके प्रति कर्तव्य है. बालबोध ग्रन्थके उपदेशद्वारा श्रीमहाप्रभु अतएव भगवत्सेवार्थ असमर्थ जीवोंमें तदीयता और तदाश्रय के भावोंको उद्बोधित करना चाहते हैं.

जलभेद और पञ्चपद्यानि ग्रन्थमें अतएव वक्ता एवम् श्रोताकी उत्तम-मध्यम-निम्न कक्षायें समझायी गयी है. उनके भलीभांति ज्ञात हो जानेपर जिस पुष्टिजीवसे सेवात्मिका भक्ति नहीं निभ पाती वह भी कथा-श्रवण-कीर्तन-स्मरण आदिकी प्रक्रियाकेद्वारा अपने पुष्टिभावोंके पोषणमें सक्षम हो पाता हैं.

१४)गुणक्षोभे अपि एतदेव दृष्टव्यम् इति मे मति::

भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें यह दिखलाया ही गया है कि स्वगृहमें भगवत्सेवाकथामय जीवनयापन सभी पुष्टिजीवोंकेलिए शक्य नहीं होता. इसके अनुकल्परूप गृहत्यागकेलिए आवश्यक भक्तिका व्यसनदशामें विकास भी अतएव बहुत दुर्लभ बात है. गृहत्यागका विकल्प किसी भगवदीयकी सत्सङ्गतिमें रहकर भगवत्परिचर्या करना और भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तनमें सम्मिलित होना दिखलाया गया है.

परन्तु जिस भगवदीयका सत्सङ्ग हम करना चाहते हों उसमें मानव-स्वभाव-सुलभ दोषदर्शन होनेपर भक्तिभावमें बाधा पहुंचनेकी आशङ्का उठी थी इसके परिहारार्थ एकान्तवासके औचित्यका भी वहां विचार किया गया था. एकान्तवासके बजाय भगवदीयकी सङ्गतिमें 'अदूरे-विप्रकर्षे' की नीति बरतनेका सुझाव दिया गया था. क्योंकि अपरिपक्व सिद्धान्तबोधकी स्थितिमें एकान्तवास करनेपर कभी अपसिद्धान्तोंके स्वाध्यायकी सम्भावना रहती है.

स्वमार्गीय सिद्धान्त अत: स्वमार्गीय वक्ताके मुखसे सुननेका आग्रह रखना चाहिये. ''भक्त्याचारोपदेशार्थनानावाक्यनिरूपक:'' श्रीमहाप्रभुके ग्रन्थोंका ही स्वाध्याय करना चाहिये. सारे गुणक्षोभ इससे शान्त हो जायेंगे, ऐसा श्रीमहाप्रभुका आश्वासन हैं.

१५) अत्र कुसृष्टि: वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रम::

षोडशग्रन्थके उपक्रमरूप यमुनाष्टकमें-''ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वम्'' कह कर भगवत्सेवार्थ अपेक्षित देहकी नूतनताकी प्रार्थनाकेद्वारा भगवत्सेवाकी महत्ता दिखलायी गयी है. षोडशग्रन्थके उपसंहाररूप सेवाफल ग्रन्थका नामाभिधान 'भक्तिफल' 'कथाफल' 'त्यागफल' 'निरोधफल' या 'प्रपत्तिफल' न कह कर 'सेवाफल' करना; तथा अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें सेवाका फल पुन: सेवाको ही मानना भी, पुष्टिमार्गमें सेवाकी महत्ताका ही प्रमाण है.

सिद्धान्तमुक्तावली, पुष्टिप्रवाहमर्यादा, सिद्धान्तरहस्य, 'भक्तिवर्धिनी तथा निरोधलक्षण ग्रन्थोमें शब्दश:, तथा अन्य ग्रन्थोंमें तात्पर्यश: सेवाके महत्त्वके पुन:-पुन: उल्लेखद्वारा जो अभ्यास किया गया है, उसके आधारपर भी पुष्टिमार्गमें सेवाकी असाधारण महत्ता सिद्ध होती है.

चतुश्लोकीमें-''सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप: स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य: क्वापि कदाचन'' द्वारा की गयी कृष्णसेवाकी प्रशंसा, तथा निरोधलक्षणमें की गयी-''नात: परतरो मन्त्र: नात: परतर: स्तव: नात: परतरा विद्या तीर्थं नात: परात्परम्'' वचनद्वारा अन्य उपायोंकी निन्दा, द्वारा अर्थवादके विचारसे भी भगवत्सेवाकी महत्ता सिद्ध होती है.

श्रीमहाप्रभुके अन्य ग्रन्थोंमें भी यथा निबन्ध भाष्य या सुबोधिनी में सेवाका उल्लेख मिलता है, परन्तु भगवत्सेवाका साङ्गोपाङ्ग-सपरिकर स्वरूप जैसा यहां वर्णित हुआ है, वह अन्यत्र सुलभ नहीं है। सेवाका अन्तरङ्गरूप भाव-भावना है. सेवाके बहिरङ्गरूपमें आत्मसमर्पण, तनुवित्तजा सेवा, गृहस्थित वस्तु एवम् परिजनोंका भगवत्सेवामें विनियोग; तथा अन्य भी नवधा भक्त्यङ्गभूत श्रवण-कीर्तनादि उपाय

माने गये है। इन सारी बातोंका जैसा स्पष्ट एवम् सुसङ्गत विचार, अपूर्वतया यहां षोडशग्रन्थोंमें हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है.

पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवाद्वारा किसी फलकी कामना नहीं जाती है क्योंकि सेवाका फल सेवा ही होती है। अतएव विवरणमें-''सेवाया: फलत्रयम्'' न कह कर ''सेवायां फलत्रयम्'' कहा गया हैं अत: तीनों ही फलावस्था षोडशग्रन्थमें मुख्यतया प्रतिपाद्य सेवाके अन्तर्भूत ही हैं। इस फलसङ्कीर्तनसे भी षोडशग्रन्थोंका तात्पर्य भगवत्सेवोपदेशमें ही पर्यवसित होता है.

अन्तिम तात्पर्यनिर्धारक लिङ्ग उपपत्ति माना गया है. अन्य प्रमाणोंसे किसी एक बातका खण्डित होना सम्भव नहीं है, इस तरहका निरूपण करना 'उपपत्ति' कहलाता है. अतएव श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि इन सोलह ग्रन्थोंमें मुख्यतया प्रतिपाद्य भगवत्सेवाके स्वरूपको अन्यान्य साधनोंकी तुलनामें गौण बनानेवालेको पुष्टिकी सुन्दर सृष्टिमें कुसृष्टिरूप ही समझाना चाहिये-''कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रम:'' ऐसे ही भ्रमोंके निवारणार्थ अन्त:करणप्रबोध लिखा गया है.

इस तरह उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अर्थवाद, अपूर्वता, फल और उपपत्ति रूप छहों तात्पर्यनिर्धारक लिङ्गोके द्वारा यह नि:सन्दिग्धतया सिद्ध होता है कि पुष्टिजीवोंकेलिये स्वगृहमें श्रीकृष्णके पुष्टिस्वरूपकी सेवा, व्रजभक्तोंके भावोंका भावनात्मक अनुसरण करते हुवे, निजतन-मन-धनका भगवान्में विनियोग; तथा उसके अनवसरमें एतद्भाववर्धिका भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन करना प्रथम एवम् चरम कर्तव्य है। यहां-वहां भटकनेवाले चित्तकी सभी वृत्तियोंका निरोध भगवत्सेवा और भगवत्कथा में होना चाहिये। क्योंकि ''ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्'' का नियम ध्रुव और अकाट्य है.

सेवाफल ग्रन्थका प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९७३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप हैं. उस प्रथम संस्करणमें प्रकाशित न हो पानेके कारण सेवाफलकी जो तीन टीकायें जलभेदके साथ प्रकाशित हुई थी, उन टीकाओंको हमने यथास्थान यहां निविष्ट कर दिया है। इसके अलावा सेवाफलकी मूल कारिका तथा विवरण वहां पृथक्-पृथक् छपे थे, उन्हे यथामति हमने उपर-नीचे योजित किया है.

प्रथम संस्करणमें श्रीपुरुषोत्तमजीके बाद जिस 'तदनुसारिणां' की टीका मुद्रित हुई थी, नामनिर्देशरहित, उस टीकाके लेखकका नाम हमें कोटायात्रामें मिल गया। श्रीमन्मथुराधीश मन्दिरके हस्तलिखित ग्रन्थागारकी रजिस्टर सङ्ख्या (२१०/३) की हस्तलिखित प्रतिमें इस टीकाके ''श्रीमथुरानाथात्मज द्वारकेशकृत सेवाफल विवृति प्रकाश'' नामका उल्लेख उपलब्ध होता है। कांकरोलीवाले महाराजश्रीके पास इन श्रीद्वारकेशजीके पुत्रके हस्ताक्षरोमें लिखित एक प्रति विद्यमान है, ऐसा ग्रन्थपरिचय लेखकको लिखे एक पत्रमें गोस्वामी श्रीव्रजेशकुमार (कांकरोली) सूचित करते हैं. श्रीवल्लभवंशवृक्षमें इन श्रीमथुरानाथात्मजश्री द्वारकेशजीका उल्लेख यों मिलता है: (प्रथम/२ गृह। जन्म वि। सं।१८५२). इसके अलावा कांकरोली विद्याविभागमें स्थित श्रीव्रजभूषणजी (द्वितीय) की विद्वन्मण्डन टीकाका मङ्गलाचरण तथा यहां १४ वें क्रममें मुद्रित सेवाफलविवृतिप्रकाश टीकाका मङ्गलाचरण समान होनेसे, यह टीका श्रीव्रजभूषणजी विरचित है, ऐसा गोस्वामी श्रीव्रजेशकुमार महाराजश्रीका अनुमान है.

सेवाफल और सुबोधिनी की एकवाक्यताके प्रदर्शक (सुबो। ३।२५।३२-४०) अंशको हम नूतनतया यहां पाठकोंके सुविधार्थ प्रकाशित कर रहे हैं.

प्रथम संस्करणके सम्पादक श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास सांकलिया थे. प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग गोस्वामी श्री १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज (पोरबन्दर) ने दिया था। इन सभी महानुभावोंका इस पुन: प्रकाशनके अवसरपर हम हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं. श्रीकृष्णार्पणमस्तु

सेवाफलतात्पर्यम्।

श्रीकृष्णं वरसुन्दरं मधुरिमामूर्तिं तदास्यप्रभून्। सेवायां मकरन्दपानमधुपौ लोकोत्तरो तत्सुतौ।

नत्वा तानखिलान् निगूढहृदयान् सेवारसास्वादकान्।व्याख्यानानि विलोक्य तानि विवृत्तिं सन्दोहरूपां यते।।

निःसाधनजनोद्धारप्रकटिततनुभिः श्रीमदाचार्यवर्यैर्निजजनाः स्वल्पेनैव प्रयासेन सर्वसिद्धान्तं जानीयुरितिकृपया षोडशग्रन्थाः प्रकटीकृताः। यद्यपि तं तमधिकारिणमुद्दिश्य आचार्यैरेते ग्रन्थाः प्रणीतास्तथाप्याचार्याणां यावक्त्य उक्तयस्तासां न्यायरूपत्वात् तत्तात्पर्यं सर्वथा सर्वदा त्रिकालाबाध्यमपरिछिन्नमिति तु निर्विवादं तद्ग्रन्थाध्येतृणाम्। यथा नवरत्नो देवश्रीगोविन्दमुद्दिश्य प्रकटीकृतस्तथैव सेवाफलं श्रीविष्णुदासमुद्दिश्य प्रकटितम्। षोडशग्रन्थेषु सेवाफलग्रन्थस्त्वन्ते वर्तते। अस्य ग्रन्थस्य निगूढार्थत्वात् सकलपुरुषार्थपर्यवसानप्रतिपादकत्वात् स्वयमेवाचार्यास्तं विवृण्वन्तः। विवरणसहित एव सेवाफलग्रन्थो महानुभावैस्तैस्तैर्गोस्वामिभिर्भट्टैश्च यथाशक्ति यथामति विवृतः। तत्र मिलितानां द्वादशविवरणानां सङ्ग्रहोत्र कृतः। यद्यप्येतासां टीकानां विषयोयं ग्रन्थस्तथाप्यस्य गूढार्थत्वं तु नैवापैति।

आदौ तावद्यथा बालबोधोस्माभिः पूर्वं पुष्टिभक्तिसुधायां प्रस्तरेण स्पष्टीकृतस्तथैवेममपि ग्रन्थं प्रस्तरेण स्पष्टीकरिष्यामः, एतेनास्य ग्रन्थस्याशयो विशेषतः सुगमो भविष्यतीति।

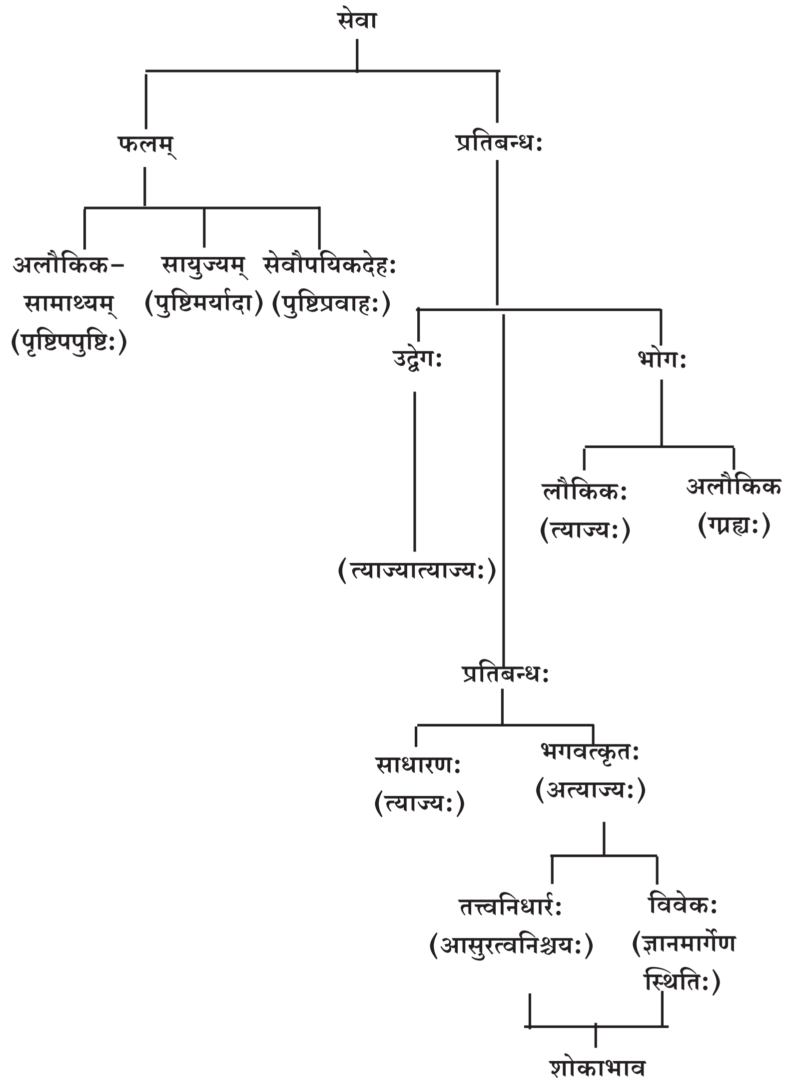

सेवा : नृणामात्यन्तिकनिःश्रेयससिद्ध्यर्थं श्रीमदाचार्यैः पूजामार्गाद्भिन्नः सेवामार्गः स्नेहप्रधानः प्रवर्तितः। अस्मिन् मार्गे स्नेहस्य प्राधान्यं न विधेः। सेवाशब्दार्थः श्रीमदाचार्यैः सर्वनिर्णयेपि दर्शितः। ''भक्तिशब्दस्य धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रमेति''। अनर्थमूलाहन्ताममताया नाशं विना चित्तस्य प्रवणं भगवति न भवतीत्येतदर्थं प्रथमं तनुजवित्तजसेवोपदिश्यते श्रीमदाचार्यैः। अहन्तारूपस्य देहस्य ममतारूपस्य वित्तस्य विनियोगो यदा भगवति सर्वांशेन भवति तदा तादृश्यहन्ताममताया विपरिणामो भवति, चित्तस्य सर्वतः सम्बन्धे निवृत्ते तस्य भगवति स्थितिर्भवति। भगवदीयस्य तदाहन्ताममतापि भगवदीया भवति। सा तु न बाधिका, प्रत्युत परमफलसाधिका। देहवित्तस्य भगवति विनियोगः साक्षाच्छ्रीमद्गोपीजनवल्लभोपदिष्टप्रकारेण महाप्रतिज्ञारूपसर्वस्वसमर्पणद्वारा श्रीमदाचार्यैः स्वशरणागतजीवानां कृतः। तदैव ते जीवा भगवदीया भूत्वा ज्ञाननिष्ठजीवानां परमकष्टेनासाध्यं जीवन्मुक्तिब्रह्मावबोधरूपमवान्तरफलमनायासेन प्राप्तवन्तः। एतादृक् प्रकारेण चित्तप्रवणद्वारा यदा भगवदीयस्य सेवा मानसी आधिदैविकी भवति, तदा सा स्वतःफलरूपा भवति। तादृशां विरलभक्तानां तु सेवां विना न किमप्यपेक्षितम्। एतदेवोक्तं श्रीभागवते ''मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु''रिति। ईदृशी स्वतःफलरूपा सेवा केवलभगवदनुग्रहैकलभ्या। अतोस्मिन् ग्रन्थे यत्फलमुच्यते तत्पुष्टिमार्गीयसेवाया एव, न केवलमर्यादामार्गीयाया वा केवलप्रवाहमार्गीयाया वा। अत्र श्रीहरिराया वा श्रीमदाचार्यैः केवलाया मानस्या एव फलमुच्यत इति विचार्य तस्याः फलत्रयमुक्तवन्तः। श्रीपुरुषोत्तमाः तनुजवित्तजसहितमानसीसेवायाः फलमुच्यत इति विचार्य तस्याः फलमुक्तवन्तः। केचित्पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादापुष्टिप्रवाहसेवायाः क्रमेण फलत्रयमुक्तमाचार्यैरिति वदन्ति। सर्वैरपि सिद्धान्तमुक्तावलीप्रोक्ता सेवोपन्यस्यते। श्रीमदाचार्याणां वाचां निगूढार्थत्वात् विवरणकाराणां भिन्नभिन्नाधिकारवत्त्वात् यादृशोधिकारस्तादृशी स्फूर्तिरिति सर्वेषां मतानामाचार्याशयाविरुद्धत्वात् सर्वेषाम् विरोधस्तु सिद्धएव। अयं सेवामार्गस्तु केवलप्रेमप्रधानः, नैवात्र क्रियाया वा ज्ञानस्य प्राधान्यम्। भगवद्भाववतां सर्वेषाम् अत्राधिकारः। एतादृशी पुष्टिमार्गीयसेवायाः फलत्रयमुच्यते, उत्तममध्यमसाधारणभेदक्रमेण। तत्रोत्तमायाः फलमलौकिकसामर्थ्यं पुष्टिपुष्टेः। सायुज्यं मध्यमायाः पुष्टिमर्यादायाः। सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिपु साधारणायाः पुष्टिप्रवाहायाः। जयगोपालभट्टास्तु एतत्क्रमं नैवाङ्गीकुर्वन्ति। तेषां मते तु सायुज्यमेव परमं फलम्, अलौकिकसामर्थ्यादि गौणं फलम्। लक्ष्मणभट्टास्तु अत्यन्तरङ्गान्तरङ्गबहिरङ्गानां सेवानां क्रमेण फलं दर्शयन्ति।

अलौकिकसामर्थ्यम्; - भगवता सहगानादिसामर्थ्यं मुख्यानामिवेतिश्रीकल्याणरायाः। अलौकिकभजनानन्दानुभवे स्वरूपयोग्यतेति श्रीगोपेशाः। श्रीमद्व्रजस्थोक्तरीत्या इतरप्रमाणागोचरमितरसाधनाप्राप्यं सर्वात्मभावैकलभ्यभजनानन्दानुभवलक्षणमितिश्रीदेवकीनन्दनाः। भगवतः कोटिसूर्याग्निरूपस्यात्यन्तिकफलदित्सायां सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रभोर्हृदयप्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यमिति श्रीहरिधनचरणाः। सर्वाभोग्यसुधेतिश्रीवल्लभाः। परप्राप्तिविवरणश्रुत्युक्तभगवत्स्वरूपानुभवे 'प्रदीपवदावेश' इतिसूत्रोक्तरीतिकभगवदावेशजा योग्यता यया रसात्मकस्य भगवतः पूर्णस्वरूपानन्दानुभव इति श्रीपुरुषोत्तमः। तदनुसारिणश्चानुक्तवात् तथैव। साक्षात् श्रीवृन्दावनादौ श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनस्पर्शनादिकृतिक्षमत्वमितिलालूभट्टाः। कस्यचिदेतत्सङ्घाते कस्यचिदेतद्देहपातोत्तरं वृन्दावनादिष्वलौकिकसङ्घातेन प्रियतमभगवत्सङ्गम इति जयगोपालभट्टाः। भगवत इवालौकिकमेव ज्ञानक्रियाभ्यां सामर्थ्यं जगद्व्यापारवर्जमिति लक्ष्मणभट्टाः। साक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपम्, हीनजीवस्योत्तमभगवता सह साम्येन रती रसोद्बोधश्चेतिविवृत्तिटिप्पणीकाराः।

इदं त्ववधेयम्। अत्र सर्वेषां टीकाकाराणां मतानि प्रायो भिन्नानीत्यतोनुमीयते यदत्राचार्यैर्न किमपीदमित्थतया विवक्ष्यते। जयगोपालाभट्टं विना सर्वेपि टीकाकारा अलौकिकसामर्थ्यमुत्तमफलत्वेन मन्यन्ते। नैवेदं फलं जीवकृतिसाध्यम्, परन्तु केवलभगवदनुग्रहैकसाध्यम्। ब्रह्मानन्दात् समुद्धृत्येदं फलं भगवता वृतेषु विशेषकृपया दीयते। कीदृशं तद्दानं तन्निश्चेतुं नैव शक्यते, भगवदिच्छाधीनत्वात् तस्य। एतत्फलं तु गोपवधूसदृशस्वतन्त्रप्रेमात्मकोत्कटभक्त्या परमसन्तुष्टेन भगवता विशेषानुग्रहख्यापनाय क्वचिद् दीयते। कोटिब्रह्माण्डादीनामखिलनिया

मकः सन्नप्यत्र स्वेच्छया भक्तमनोरथपूरणाय भगवान् तद्वश्यो भवति। अखिलं जगत् स्वेच्छया लीलया नर्तयन्नपि परमार्द्रार्द्रो भूत्वा भक्तमनोरथानुसारेण तद्वशः सन् स्वयं नृत्यति भगवान्। सर्वज्ञो भूत्वापि यशोदायाः सन्निधौ महामुग्धवत् तिष्ठति। भक्तमम्बरीषं स्वयं रक्षन्नपि भक्तापराधक्षमाकरणाय स्वस्याशक्तिं कथयन् दुर्वाससं प्रति भक्तवश्यतां प्रकटयति। अखिलं[1]

([1]ननु किमर्थं भगवानेतावत्कृत्वा बन्धनरूपो जात इति चेत् तत्राह एवमिति। एवमपकारिणि लोके स्वकीयत्वमात्राभिमानेनापि एतावतीमभूतपूर्वां कृपां करोतीति स्वस्य भक्तवश्यता प्रदर्शिता। प्रदर्शनस्यापि प्रयोजनमाह हरिणेति। स हि सर्वदुःखहर्ता तत्प्रसिद्ध्यर्थमसम्बन्धेन दुःखहर्तृत्वेतिप्रसङ्गात् संसारविलयः स्यादिति सम्बन्धार्थकृपालुतां प्रदर्शयति। कृपा च सर्वधर्मधर्मिभ्यो बलिष्ठेति वक्तुं भक्तवश्यताशब्देनैवोक्ता। ननु भक्त्या चेद्धर्मधर्मिणामुपमर्दः क्रियते तदा स्वरूपस्य प्रच्युतत्वात् फलाभावात् प्रदर्शनमपि व्यर्थ स्यादित्याशङ्क्ययाह स्ववशेनापीति। स हि स्ववश एव, न केनाप्युपमर्दः। अनेन फलसाधकत्वमुक्तम्। फलरूपत्वमाह कृष्णेनेति। नन्वेवं कृते अन्यो महान् ब्रह्मादिर्न मंस्यते, ततो माहात्म्यस्य न्यूनभावान्न तथा फलत्वमित्याशङ्क्याह यस्येदं सेश्वरं वश इति। तत्तदधिष्ठातृदेवतासहितं सर्वं यस्य जगत् वशे। अतो नान्यभावनं केनचिदपि कर्तुं शक्यमिति भावः। नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया प्रसादं लेमिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात्। एवं स्वमनोरथे सिद्धे।)

विश्वं स्वमायया बन्धयन्नपि श्रीमन्मातृचरणानां भक्त्यतिशयेन स्नेहातिशयेन तद्वशः

सन् स्वयं श्रीमद्यशोदया दाम्ना बद्धो भवति। ईदृशं किञ्चित्प्रकारकं सामर्थ्यं यत्र भक्त्यतिशयेन प्रेमातिशयेन भगवान् भक्तवश्यः सन् तत्कामान् पूरयति तत्र प्रकटीभवति। इदमेवोत्तमं फलं श्रीमदाचार्याणामभिप्रेतमिति नात्र संशयः। श्रीमद्गोकुलनाथानां श्रीमत्पुरुषोत्तमानामप्ययमेवाभिप्रायः। 'सोश्नुते'श्रुतिरपि भक्तस्य विविधरसगोचतुरेण रसेश्वरेण भगवता सह भोगं निरूपयन्ती भक्तस्य प्राधान्यं भगवतो गौणत्वं स्पष्टमेव कथयति। प्राप्तं फलं यावत्पर्यन्तं स्वाधीनं न भवति तावत्पर्यन्तं तस्य फलत्वमपि न प्रकटीभवति। रसशास्त्रेपि रसाधिक्ये पुंभावः प्रतिपाद्यते। अर्थाद्भगवतो (यत्र च भक्तस्य स्वातक्त्र्यं तदिच्छानुसारेण भगवत्कृतिर्यथा दामोदरलीलायां सा पुष्टिः। नि। ३०२) गौणत्वं भक्तस्य प्राधान्यं यत्र भवति तत्रैवालौकिकसामर्थ्यं प्रकटीभवति। स्वस्य स्वातक्त्र्यं पालयन् भक्ताधीनो भूत्वा तन्मनोरथान् पूरयन् स्वस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वं महामाहात्म्यं च प्रकटीकुर्वन् भगवान् श्रीकृष्ण एव परमफलरूपोऽलौकिकसामर्थ्यरूपः श्रीमदाचार्याणां हृदयशेषे नित्यं रमते स्म। बहिरपि श्रीमदाचार्याणां सन्निधौ अखिललीलाविशिष्टो भगवान् कृष्णो रममाणः प्रकटतया भक्तवश्यतां प्रदर्शयन् निरन्तरं स्वदृग्विषयो भवति। एतादृशं भगवतः परमं फलं वायनसागोचरं सत् शब्दैः कथं प्रतिपादयितुं शक्यते। अनुभवैकवेद्यत्वात् तस्य। अत एवाचार्यैः तादृशनिगूढत्वप्रदर्शनाय 'अलौकिकसामर्थ्य'मिति परमनिगूढशब्दप्रयोगः कृत इति प्रतिभाति। अत्रापि सर्वेषां टीकाकाराणामविरोधस्तु अनुक्तसिद्ध एव। सर्वेषां भिन्नाधिकारवत्वात् भगवतः स्वतन्त्रेच्छत्वाच्च कीदृशं दानं भगवान् करिष्यति तन्न ज्ञातुं शक्यत इति। श्रीपुरुषोत्तमचरणैस्तु अविरोधप्रकारोतिसुन्दरतया प्रतिपादितः, अतस्तदेवास्माभिरत्रानूद्यते। एतत्सर्वं भगवतो नानाविधप्रवेशहेतुकत्वाद्भगवदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादुपपन्नमिति।

सायुज्यम्;-सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यम्, सहभावः गोपानामिवेति श्रीकल्याणरायाः। भक्त्या मामभिजानातीत्युक्तो भगवत्स्वरूपे लय इति श्रीगोपेशश्रीदेवकीनन्दनश्रीपुरुषोत्तमाः लालूभट्टाश्च। विवृत्तिटिप्पणीकारा अपि तथैव। संयोगानुभवसामर्थ्यम्, भगवता सह सततस्थितिरेव सार्वदिकसंयोगरसानुभव इतिश्रीहरिधनचरणाः। सोश्नुत इतिश्रुत्युक्तसहभावेन भगवता सह भोग इतिश्रीवल्लभाः। शुद्धपुष्टिमार्गीयं भेदसम्बन्धघटितं केवलेन हि भावेनेत्यादिवाक्यैरत्युत्तम कृपया ब्रह्मभावज्ञानवैराग्यनिरपेक्ष प्रेमासक्तिव्यसनरूपकेवलभावजनितभगवत्सह भावविशिष्टसार्वकालिकसर्वकामभोगरूपमिति जयगोपालभट्टाः। उभयविधमपि

सायुज्यमितिलक्ष्मणभट्टाः। तथा चात्र द्विविधं सायुज्यम्। रूढार्थकं यौगिकार्थकं च। तत्राद्यं ज्ञानमिश्रितानामेकत्वरूपम्, अभेदरूपं भेदात्यन्ताभावरूपमात्मनैक्यम्। शुद्धभक्तानामपरम्, भेदतस्तद्दत्तसखित्वतस्तदानन्दानुभवात्। पूर्वत्र देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि विदायेह स्वात्मनैव केवलेन तदानन्दानुभवः, अपरत्र सहैव तैरिति सार्थकतैषाम्, अन्यत्र नेति। अत्रापि पूर्ववदविरोधस्तु सिद्ध एव। व्याख्यानस्य प्रकारद्वयम्। एकं शास्त्रीयम्, अपरं भक्तिमार्गीयम्। श्रीहरिरायादयो भक्तिसरणीमनुसृत्य यौगिकार्थकं सायुज्यमङ्गीकुर्वन्ति। श्रीपुरुषोत्तमादयः शास्त्रीयसरणीमनुसरन्तो रूढार्थकं सायुज्यमङ्गीकुर्वन्ति, तथापि यौगिकार्थसायुज्यग्रहणे नैव तेषां प्रद्वेषः, प्रत्युत सम्मतिरपि वर्तते, यतः तैरपि निबन्धे ''आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यये''त्यत्र तथैव सायुज्यशब्दो यौगिकार्थे व्याख्यातः। श्रीपुरुषोत्तमरीत्या विचार्यमाणे इदं सायुज्यं पुष्टिमर्यादायाः फलं भवति। श्रीहरिरायरीत्या विचारिते तु इदमपि फलं मानस्याः शुद्धपुष्टेरेवेति भेदः। अत्रेदमपि ध्येयम्, शास्त्ररीत्या जीवस्य प्राप्यफलस्य विचार्यमाणे सायुज्यपर्यन्तं बुद्धिरारोहति, तदतीते अलौकिकसामर्थ्ये तु न। अत एवाचार्याः प्रायः सर्वत्र फलं निरूपयन्तः सायुज्यशब्दं प्रयुञ्जन्ति। स्वस्मिन् लयं कारयित्वा अनुग्रहविशेषेण पृथगाविर्भावयित्वा यदा फलं दातुं प्रभुरिच्छति, तदा भक्तस्य तदनुभवोपि नैव स्वरूपेण, परन्तु भगवत्कृततत्प्रवेशहेतुकः, प्रभुरेव तस्यानुभवात्मा तदैव भवति। तस्यामवस्थायां यत्र सर्वोपि व्यवहारो भगवदीय एव, आत्मत एव इदं सर्वम्, तत्र द्वैताद्वैतयोः प्रश्नो नैवोत्तिष्ठति। तथापि भेदेनानुभवं विना भक्तिरसस्यानुभवो सामान्यतो न भवतीति विचार्य श्रीगोकुलनाथश्रीहरिरायादिभिर्द्वैतविशिष्टाद्वैतपक्षः क्वचिदुपन्यस्तः। वास्तवं श्रीमदाचार्यप्रतिपादितं शुद्धाद्वैतमेवाखण्डितं तेषां मते भवति। तथापि तत्पक्षमनुसृत्य तैः सायुज्यशब्दस्तथैव यौगिकार्थे व्याख्यातः। अतो न कुत्रापि विरोधः। अत्र जयगोपालभट्टास्तु श्रीहरिरायवत् सायुज्यशब्दं यौगिकार्थकमङ्गीकुर्वन्तः सायुज्यमेव परमं फलमलौकिकसामर्थ्यादि गौणं फलमिति मन्यन्ते, तन्नैवास्माकं मनस्यायाति। विप्रयोगस्य परमफलत्वं संयोगस्य मध्यमफलत्वं यच्छ्रीहरिधनचरणैः प्रोक्तं तदपि परमाग्रहेण खण्डयन्ति। परन्तु तत्रापि दृष्टिभेदत एव विचारवैषम्यं भासते। श्रीहरिरायादयः विप्रयोगमेव परमफलत्वेन मन्यन्ते, संयोगादयस्तेषां मते व्यभिचारिभावाः, विप्रयोगस्तु स्थायिभावः। श्रीमत्प्रभुचरणाः संयोगं परमफलत्वेन मन्यन्ते, तत्र संयोगः स्थायिभावः, विप्रयोगादयः व्यभिचारिभावाः। आचार्यास्तु ''आन्तरं तु महाफल''मित्यत्र विप्रयोगस्य महाफलत्वं दर्शयन्ति। अत्र विरोधस्तु नैवाणुरपि। आचार्याणां विप्रयोगरूपत्वात् श्रीमत्प्रभुचरणानां संयोगरूपत्वादुभयरूपेण

प्रभुः फलरूपेण उभयद्वारा प्रकटीभवन् स्वीयानां मनोरथान् पूरयिष्यन् निजां सुधां वर्षयिष्यति कथं क्वेति न ज्ञातुं शक्यते। अतः सर्वमत्र प्रतिक्षणनूतनत्वात् रमणीयमेव। किञ्च, रसरूपः प्रभुरेव परमं फलम्। रसस्योभयदलविशिष्टत्वात् संयोगरूपेण विप्रयोगरूपेण वा फलत्वं तस्य नैव व्यभिचरति। यस्य निष्ठा विप्रयोगे भवति स तं प्रधानीकृत्य संयोगं मध्यमफलत्वेन मन्यते, यथा श्रीहरिरायादयः। यस्य निष्ठा संयोगे भवति स तं प्रधानीकृत्य विप्रयोगं मध्यमफलत्वेन मन्यते, यथा जयगोपालादयः। श्रीमदाचार्यास्तुभयदलविशिष्टमपि प्रभुस्वरूपं परमफलरूपं मन्वानाः विप्रयोगस्य क्वचित्प्राधान्यं दर्शयन्ति, क्वचित्संयोगस्य। उभयस्य परमफलत्वे तु नैव सन्देहः, तथापि यादृशं भगवता दानं तादृशी रुचिरुत्पद्यते। अतो भगवतो रसरूपत्वात् तस्य च भावविभावानुभावैः पुष्टत्वात्, स्वपूर्णप्राकट्यकरणायैवात्र विविधमतप्रदर्शनं भगवता स्ववृतभगवदीयद्वारा कृतमिति प्रतिभातीति सर्वं समञ्जसम्।

सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिषु;–सेवायां क्रियमाणायामेवानुग्रहविशेषा भावात् साक्षात् सेवानुपयोगे अन्यैः तादृशसाक्षाद्रसानुभवकर्तृभिः क्रियमाणायाः सेवाया उपसमीपे योगः सम्बन्धः तद्वत्पक्ष्यादिशरीरप्राप्तिरितिश्रीहरिधनचरणाः। देहेन्द्रियासुहीनः पुरुषस्त्रीपशुपक्षिवृक्षाद्याकृतिः संस्थानविशेष इति श्रीपुरुषोत्तमचरणाः। व्यापिवैकुठादौ पार्षदादिदेहप्राप्तिरिति लालूभट्टाः। ‘‘गोकुलं वनवैकुण्ठमितिकृष्णोपनिषदुक्तेः प्रपञ्चातीतभगवन्निवासस्थानं व्यापिवैकुण्ठान्तर्गतं बृहद्वनं नन्दीश्वरं चोच्यते। आदिपदेन श्रीवृन्दावनश्रीमद्गोवर्धनादि च। तत्र सायुज्यफलादानेधिकारः सेवौपयिकदेहरूपो वाथवा भवतीत्यर्थः। वैकुण्ठान्तरस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूपभगवल्लोकत्वाभावाद् गोकुलस्यैव तादृग्भगवल्लोकत्वाद् वैकुण्ठपदेन श्रीगोकुलम्, आदिपदेन वृन्दावनादिकं चाभिप्रेतमितिजयगोपालभट्टाः। अप्राकृतभूतभौतिकतृणलतौषधिवृक्षपशुपक्ष्यादिदेहः अधिकारात्मा, तत्र सेवोपयोगी बोध्यः, वैकुण्ठपदेन मुख्येऽमुख्ये च। आदिपदेन स्वर्गादिषु विष्णोः स्थानेष्वपि ततेतिलक्ष्मणभट्टाः। अलौकिकदेहवयोगुणादिकमितिविवृत्तिटिप्पणीकाराः। रमाप्रार्थितवैकुण्ठक्षीरोदश्वेतद्वीपेषु भगवत्सेवायोग्यदेहप्राप्तिरितिश्रीगोपेशाः। तथैव श्रीदेवकीनन्दनाः। आदिपदेन श्रीमथुरावृन्दावनादिकं ग्राह्यमितिश्रीवल्लभाः। आदिपदेन भूलोके उद्धवादीनामिव गवादीनामिवेति वा सेवोपयोगिदेहप्राप्तिरितिश्रीकल्याणरायाः। अत्रेदं ज्ञेयम्। श्रीगोपेशाः श्रीदेवकीनन्दनाः क्रमेण मर्यादाभक्तेः प्रावाहिकभक्तेः फलं वदन्ति, अन्ये तु पुष्टिभक्तेः साधारणभक्तेर्वा फलं वदन्तीति दृष्टिभेदतस्तारतम्यम्।

उद्वेगः–सेवायां क्रियमाणशयामन्यत्र गमनेच्छादिरितिश्रीकल्याणरायाः। मनसः सेवायां क्रियमाणशयामुत्कृष्टो वेगः, सर्वथा तत्रास्थिरता बाहिर्मुख्यमितिश्रीहरिधनचरणाः। मनसोन्यपरतेतिश्रीवल्लभाः। उच्चैर्भयं चलनं वा, सेवायां क्रियमाणायां दुष्टादिभ्यो मनसो भयं पापादिना बुद्धेश्चाञ्चल्यमितिद्विप्रकारकमुद्वेगं श्रीपुरुषोत्तमा आहुः। भगवत्सेवासमये चित्तक्लेशप्रदश्चाञ्चल्यविशेष इतिलालूभट्टाः। अन्ये तु विशेषं न कञ्चनाहुः। अयमुद्वेगः सेवायां प्रतिबन्धरूपत्वात् त्याज्यः। आचार्याः प्रथममुद्वेगादित्रयं ससाधनं त्याज्यत्वेनोक्त्वाग्रे तत्त्याज्यत्वात्याज्यत्वविभागं च कृत्वा पश्चाद्द्वयोः साधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगयोः त्याज्यत्वं निरूपितवन्तो न तूद्वेगस्यापि, अत उद्वेगस्य कश्चिद्भिन्न एव प्रकारोभिमत इति विचार्य श्रीपुरुषोत्तमास्तस्या अनुक्तेः कारणं दर्शयन्त उद्वेगस्यामुकांशेन अत्याज्यत्वमपि सूचयन्ति।

प्रतिबन्धः–सेवासमये लौकिकवैदिककार्यान्तरासक्तिरन्यकृतान्तरायादिश्चेतिश्रीकल्याणरायाः श्रीहरिरायाश्च। वेदनिन्दा म्लेच्छबलिष्ठबहिर्मुखजनितोपद्रवश्चेतिश्रीगोपेशाः। कायस्यान्यपरतेतिश्रीवल्लभाः। तत्प्रतिकूलो निग्रह इतिश्रीपुरुषोत्तमाः। सेवायां रुचौ सत्यामपि तत्समये लौकिकवैदिककायिकादिकार्यासक्तिरूप इतिश्रीपुरुषोत्तमास्तदनुसारिणश्च। प्रतिबन्धकं तूदासीनं दुःखसुखे प्रयच्छतीतिलालूभट्टाः। अयं प्रतिबन्धो द्विविधः। साधारणो भगवत्कृतश्च। साधारणो बुद्ध्या त्याज्यः। भगवत्कृतस्तु न। भगवत्कृतप्रतिबन्धे तत्त्वनिर्धारविवेकौ साधनरूपौ, तेन फलं शोकाभावः, न मुक्तिः। विशेषस्तु स्पष्टः, टीकासु दर्शितत्वादत्रानुपयोगित्वाद् विस्तरभयाच्च नानूद्यते। तत्त्वनिर्धाररूप आसुरत्वनिश्चयः, भगवान् फलं न दास्यतीति विवेकश्च स्पष्टतया टीकाकारैरनूदितौ।

भोगः–लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधः। लौकिकस्त्याज्यः। लौककभोगस्तु गृहत्यागं विना न सिध्यतीत्यतो ‘‘भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग’’ इत्याचार्यैरुक्तम्। अलौकिकभोगस्तु ग्राह्यः। भगवन्निवेदितानां भोगोऽलौकिकभोगः। अलौकिकसामर्थ्यमिति प्रायः सर्वे वदन्ति, श्रीवल्लभास्तु प्रथमफलं सेवोपयोगिदेह इति वदन्ति। भगवत्स्मरणसहितकृतभोगस्तु नैव बाधकः।

एवं सेवायाः फलं बाधकं चोक्त्वा आचार्याः स्वोक्तेः सर्वदा भावनमुपदिशन्ति। यद्यपीयं भावना न स्वकृतिसाध्या तथापि कर्तव्येति तथैव सर्वैरनूद्यते। गुणक्षोभेपि तद्भावनमेव कर्तव्यम्, अन्यत् सर्वं मनोभ्रमः। गुणक्षोभशब्दस्तु टीकाकारैर्द्विधा

सामान्यतो व्याख्यातः। केचिदश्रुपुलकादिक्षोभ इति वदन्ति, अन्ये तु सत्त्वरजस्तमसां क्षोभ इति वदन्ति। उभयथापि भगवच्छरणभावनमेवाचार्याणां स्पष्टमभिमतमिति तु नैव सन्देहः। तदीयैरपि तदेव कर्तव्यम्, फलाविलम्बाय, यतोधुना जीवानां पुष्टिमर्यादायामेवाङ्गीकारः। यथाहुः श्रीहरिधनचरणाः ''साम्प्रतं तु पुष्टिमर्यादायामेवाधुनिकानामङ्गीकाराद् भजनसिद्धिविलम्बसद्भावेन तावत्पर्यन्तं प्रोषितभर्तृकाया इव फलप्रतिबन्धभावनं सर्वदा कार्य''मिति। अत्राचार्यैरुक्तं ''अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः'' इति वाक्यं पुष्टिमार्गीयस्याधुनिकस्य कीदृशं कर्तव्यमिति स्पष्टतया ज्ञापयति। सर्वप्रमाणातीतो वाङ्मनसागोचरः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो भगवान् केनचित्साधनेन प्राप्यते इति तु नैव वक्तुं शक्यम्। अत एव भगवत्प्रापकत्वेन किञ्चित्साधनं भगवदतिरिक्तं पुष्टिमार्गे वर्तते इत्यपि तु वक्तुं नैव शक्यम्। साम्प्रतं वेदमार्गस्य प्राय उत्सन्नत्वात् सोपि भक्तिमार्गस्य पुष्टिमार्गस्याङ्गत्वेनात्रैव प्रविशति। अतः पुष्टिस्थितो भगवान् मर्यादास्थितसाधनैर्नैव प्राप्तुं शक्यते, अत एवोभयथा पुष्टिमार्गस्य निःसाधनत्वं स्फुटं प्रतीयते। तथापीदं विचारणीयम्। श्रीहरिरायश्रीपुरुषोत्तमादिभिरधुनानवतारदशा प्रचलतीति प्रतिपाद्यते, साम्प्रतं जीवानां पुष्टिमार्गीयाणामङ्गीकारोपि पुष्टिमर्यादायामेव भवतीत्यपि तैरेवोच्यते। तेन यद्यपि जीवैर्भगवत्प्रेरणं विना किमपि कर्तुं स्वबलेन नैव शक्यते, तथापि भगवत्प्रेरणया भगवद्बलेन यच्छक्यं भवति तदवश्यं कर्तव्यम्, स्वनिर्वाहाय प्रोषितभर्तृकावत्। यद्यपि एतत्फलरूपं भावनं भगवत्कर्तृकमेव तथापि एतदेव भगवच्छरणभावनं कर्तव्यं न तु तूष्णीं स्थेयम्। पुष्टिमार्गस्य भगवद्रूपत्वाद्भगवतो विरुद्धधर्माश्रयवत्त्वात् तस्यापि तथात्वादस्मिन् मार्गे भासमानो विरोधोपि विरोधाभास इवालमाररूप एव। साधनफलरूपो भगवानेव। तथाहुः श्रीमत्प्रभुचरणा निबन्धे ''भक्तिमार्गे तु भगवान् स्वत एव यदा भक्तेषु सर्वं सम्पादयति स्वीयत्वेन, तदा भक्तः स्वाङ्गीकारं सर्वात्मना ज्ञात्वा स्तुत्यादिषु स्वाधिकारं जानाति ततः स्तौति। अथवा सर्वात्मना स्वाङ्गीकारज्ञानेनान्तरानन्दे पूर्णे बहिरपि सर्वेन्द्रियेषु प्राकट्यसमये वाचि स निर्गच्छन् स्तुतिरूपो भवती''ति। यावन्ति साधनानि तानि न भगवत्प्रापकाणि, तेषां स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वात्। विशेषस्तु स्थलसमोचाद् गुजरानुवादे प्रतिपादयिष्यत इति।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।।

मार्गशीर्षकृष्णनवमी, मूलचन्द्र तेलीवाला।

श्रीमत्प्रभुचरणप्राकट्योत्सवः धैर्यलाल सांकलीया।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

।। सेवाफलम् ।।

श्रीकल्याणरायविरचितसेवाफलोक्तिविवृतिसमेतम्।

श्रीमदाचार्यमार्गेण सेव्यमानोस्मदीश्वरः।
निवारयतु नस्तापान्[१] सुखसन्दोहसिद्धये ।।१ ।।

श्रीमद्वल्लभाचार्यमार्गोक्तप्रकारेण सेव्यमानो भगवानितोधिकं किञ्चित् फलं दास्यति मुक्तिमेव वेति सन्दिग्धचेतसां समाधानार्थं श्रीमद्वल्लभाचार्याः सेवासिद्धौ फलं निरूपयन्ति **यादृशी सेवनेति।**

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

भक्तिमार्गे सेवा मया यादृशी प्रकर्षेणोक्ता 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति तत्सिद्धौ सत्यां यत् फलं भवति तदुच्यते।

अस्य ग्रन्थस्य गूढार्थत्वाद्विवरणमपि श्रीमदाचार्याः कृतवन्तः।

सेव्यमानो भगवान् प्रसादानुसारेणोत्तममध्यमसाधारणप्रकारेण फलं प्रयच्छतीति त्रैविध्याद्विवरणे **सेवायां फलत्रयमित्युक्तम्।**

तत्रोत्तमं फलमाहुः **अलौकिकसामर्थ्यमिति**। भगवता सह गानादौ सामर्थ्यं, मुख्यानामिव। मध्यमं फलमाहुः **सायुज्य**मिति। सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यं सहभावः, गोपानामिव। साधारणं फलमाहुः **सेवोपयोगी देहो वैकुण्ठादिष्विति**। आदिपदाद्भूलोके उद्धवादीनामिव।

सेवासिद्धौ सत्यां यदि भगवानलौकिकं देहादिकं सम्पादयति तदा फलविषयको मनोरथोन्योपि सिध्यतीत्याहुः **अलौकिकस्ये**ति।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ।।१ ।।

अलौकिकस्य योग्यस्य शरीरादेर्दाने सति अधिकारसम्पत्तौ सत्यां पूर्वोक्तं फलं प्राप्नोतीत्यर्थः। हीति युक्तश्चायमर्थः। एतत् फलं साधनानां साधनासाध्यत्वात्। चोप्यर्थे।

१ मत्पापानिति पाठः। २ सेवाफलसिद्धाविति पाठः। ३ भूलोकेषु गवादीनामिवेति

पाठः।

चाल्प इतिपाठे साधारणहीनमध्यमयोः कथञ्चित्सिद्धावपि भगवद्दानं विनोत्तमं फलं न सिध्यतीत्यर्थः।।१।।

कालकर्मवशादिदं कदाचिद्भवेदित्याशङ्क्याहुः फलं वेति।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

भजनानन्दलक्षणफले तदधिकारयोः **कालो नियामको** दाता प्रतिबन्धको वा न भवतीत्यर्थः।

सेवासिद्धौ व्यवस्थया फलमुक्त्वा सेवासाधनदशायां बाधकान्याहुः उद्वेग इति।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्।।२।।

सेवायां क्रियमाणायामन्यत्र गमनेच्छादिरुद्वेगः। सेवासमये लौकिकवैदिककार्यान्तरासक्तिः अन्यकृतान्तरायादिश्च **प्रतिबन्धः**। **भोगो** विषयाणाम्।

एते त्रयः प्रत्येकं बाधकाः। तेनैतेषां **साधनपरित्यागः कर्तव्यः। भोगो द्विविधः। लौकिकोऽलौकिकश्च।** लौकिको लोकसिद्धः। यथा लोकाः स्वार्थमुच्चावचान् पदार्थानानीय भोगं कुर्वन्ति स **लौकिको बुद्ध्या त्याज्यः।** एतेन श्रुतिस्मृतिपुराणादिसिद्धो भोगो व्यावर्तितः। **अलौकिको भगवद्दत्तः** अम्बरीषादेरिव। स तु साधारणमध्यमोत्तमफलेषु प्रथमफले प्रविशति, यथा सेवोपयोगिदेहं दत्वा सेवां कारयित्वा प्रसादत्वेन दत्तानां भोगं कारयति भगवान् स **अलौकिकभोगो न त्याज्यः। प्रतिबन्धोपि द्विविधः।** साधारणो भगवत्कृतश्च। तत्र साधारणः पूर्वमुक्तः। स बुद्ध्या त्याज्यः। यस्य यत्साधनस्य च प्रतीकारो न सम्भवति स भगवत्कृतः। स यदा भवति तदा भगवान् फलं न दास्यतीति ज्ञातव्यम्।।२।।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्।।३।।

अकर्तव्यं भगवतः। अस्य श्लोकस्य विवरणं भगवत्कृतश्चेदित्यारभ्य विवेकइत्यन्तम्। **तदान्यसेवापि व्यर्थेति।** महादेवनारदादीनां भक्तिदातृत्वश्रवणान्महादेवादिसेवया सेवातत्फलसिद्धिर्भविष्यतीत्याशया कृता महादेवादिसेवापि व्यर्था, नैतत्फलसाधिकेत्यर्थः। तदेति। तदा **आसुरः** आसुरावेशवान् आसुरभाववान् वायं जीव इति **निर्धारो** निश्चय इत्यर्थः। जीवस्यासुरत्वे सेवायां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तदा कथं ममैवं भवतीति शोकाभावाय भगवानीश्वरः स्वेच्छया सर्वं ददाति मम प्रायेण मुक्तिमेव दास्यतीति ज्ञात्वा ज्ञानमार्गेण श्रवणमनननिदिध्यासनानि कुर्वता स्थेयमित्यर्थः। यथा तत्त्वनिर्धारो भवति तथायं विवेको वा साधने इत्यर्थः। अत्रायं भावः। दुःसङ्गाद् बाहिर्मुख्ये भक्तापराधे वा भगवान् प्रतिबन्धं करोति तदा अन्यसेवया स्वतो वा मुख्यं फलं न भवतीत्यर्थः।।३।।

ननु साधारणो लौकिको भोगः किमर्थं त्याज्यः, भोगेनैव सेवा कर्तव्येत्याशङ्क्याहुः **सविघ्नोल्पो घातक** इति।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्।।४।।

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा।।५।।

सविघ्नत्वात् सर्वथा न सिध्यति। जायमानोप्यल्पसुखजनको भवति, भावघातकोपि भवति, अतस्त्याज्यः। ननु सावधानतया स्थितेर्न भोगप्रतिबन्धकयोर्बाधकत्वमित्यत आहुः सावधानेपि भोगप्रतिबन्धौ वस्तुसामर्थ्यादेव प्रतिबन्धकौ सम्मतावित्यर्थः। **बाधकानामितिश्लोक एवं योजनीयः**। बाधकानां परित्यागः कर्तव्यः। **भोगेप्येकं** परमुत्कृष्टमेकं भोगं विहाय तथा परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः। यतो निःप्रत्यूहं यथा स्यात्तथा महान् भोगः प्रथमे प्रविशति। पूर्वं व्याख्यातमेतत्। **ज्ञानस्थितीति।** ज्ञानमार्गेण स्थितावपि प्रतिबन्धे या चिन्ता तदभावार्थमित्यर्थः अत्रायं भावः। पूर्वं ज्ञानमार्गेण स्थातव्यमित्युक्तम्। अधुना श्रीकृष्णप्रसादाभावान्मुक्तिरपि न भवतीति स्वस्य संसारनिश्चयात् फलार्थं चिन्ता न कर्तव्येत्यर्थः। ननु पूर्वकृतसेवायाः सत्त्वात् फलं कथं न भवेदित्याशङ्क्याहुः **आद्येति।** आद्येन भगवता भगवत्कृतप्रतिबन्धेन फलाभावे कायवायनोभिस्तत्परतया कृतत्वाभावात् सा सेवा नाधिदैविकी, कायवायनोभिस्तत्परतया कृतत्वेपि भक्तापराधादिना भगवांश्चेत्तां न मन्येत तदा सा सेवा नाधिदैविकी भवति, भगवद्गामिनी न भवति। आधिदैविक्या एवैतत्फलसाधकत्वात्। **भोगेति। गृहपरित्यागः** गृहासक्तिपरित्याग इत्यर्थः। **द्वितीय** इति। द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्धस्तस्मिन् सति फलं कथं स्यादिति चिन्ता संसारनिश्चयात् सर्वथा त्याज्येत्यर्थः।।४, ५।।

ननु प्रतिबन्धसाधारणभोगयोः सत्त्वेपि साधनकरणे फलं स्यादित्याशङ्क्याहुः **न त्वाद्ये** इति।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः।।६।।

आद्ये भगवत्कृतप्रतिबन्धे भगवतो दातृता नास्ति। **तृतीये** साधारणभोगे गृहासक्तिर्बाधिकेत्यर्थः। **अवश्येयमिति**। इयं रीतिरवश्या, कर्तुमशक्यापि फलार्थं सदा कर्तव्यत्वेन भाव्या। अन्यत् सर्वसाधनं मनोभ्रमः स्वान्तभ्रान्तिरित्यर्थः।।६।।

ननु भगवदीयानां स्वत एवैतत्फलं भविष्यति किमर्थं पूर्वोक्तं कार्यमित्याशङ्क्याहुः **तदीयैरिति।**

---

१ दुष्टमितिपाठः। २ तद्भावार्थमितिपाठः।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

भगवदीयैरपि पूर्वोक्तसाधनं कार्यम्। मर्यादायामङ्गीकारात्। ननु भक्तिमार्गप्रवेशमात्रेण क्वचित् फलं दृश्यत इत्यत आहुः पुष्टाविति। पुष्ट्यङ्गीकारे तु भगवान् विलम्बं नैव कुर्यात्, तेन शीघ्रं फलसिद्धिरित्यर्थः।

रजस्तमोभ्यां मनसः क्षोभेपि एतदेव साधनं कर्तव्यत्वेन द्रष्टव्यमित्याहुः **गुणक्षोभेपी**ति।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ।।७ ।।

मम निश्चय एतावानेवेत्याहुः **मे मतिरि**ति ।।७ ।।

ननु साधनानां बहूनां सत्त्वात् किमिति एतदेव साधनमित्यत आहुः **कुसृष्टिरत्रे**ति।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ।।७ ।।

अत्रास्मिन्फले **कुसृष्टिः** कुत्सितानां साधनानां या सृष्टिः कल्पना उत्पन्ना स्यात् सा भ्रम एव इत्यर्थः ।।७ ।।

सेवाफलोक्तिविवृतेः स्वाचार्याणां यथामति।
कृता कल्याणरायेण विवृतिः स्वसुखाय च ।।१ ।।

इतिश्रीवल्लभचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता सेवाफलोक्तिविवृतिः समाप्ता।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सेवाफलम्।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिटिप्पणीसमेतम्।

स्वमार्गोक्ततनुवित्तजायाः सेवाया मानसीसेवाफलमिति सिद्धान्तमुक्तावल्यां श्रीमदाचार्यचरणोक्तेर्निबन्धे तु भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यत इत्युक्तेः सन्दिहानान् स्वानुपदिशन्ति।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

यादृशी यत्प्रकारिका **सेवना** सेवा **प्रोक्ता** स्वग्रन्थेषु पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादामर्यादाभेदैर्मया विविच्योक्ता **तत्सिद्धौ** तस्यां[1] स्वफलजननस्वरूपयोग्यतायां सत्यां तत्प्रकारकं **फलमुच्यत** इत्यर्थः।

तत्र प्रथमं भगवदर्थं निरुपधिसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते यन्मुख्यं फलं भवति तदाहुः।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ।।१ ।।

अलौकिकस्य स्वरूपानन्दस्य, **दाने** वितरणे, **हि** निश्चिते सति, तथा च भगवतश्चिकीर्षिते सतीत्याशयः। **आद्यः** स्वरूपानन्दानुभवात् प्रथममुत्पन्नो **मनोरथः** ''यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले गोपिकानां तु'' इत्यादिना निरूपितस्वरूपो लिप्साविशेषः **सिध्येत्** सिद्धिविषयकः स्यादित्यर्थः। इत्थञ्च प्रेमोत्पत्त्या सिध्येत् तद्विषयकः स्यादित्यर्थः। चेति मनोरथश्च स्यात् सिद्धश्च स्यादित्याशयः। इत्थञ्च प्रेमोत्पत्त्यनन्तरं भगवतः स्वरूपानन्ददित्सायां फलरूपस्वविषयसहितस्य मनोरथस्योत्पत्तिः। दित्साया अभावे तु तदनुत्पत्तौ पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवायाः पुरुषोत्तमसायुज्यं फलं भवतीति ध्येयम्। वक्ष्यन्ति चेममर्थं **न त्वाद्ये दातृता नास्तीत्यनेन** ।।१ ।।

एवं पुष्टिपुष्टिभजनस्य फलमुक्त्वा पुष्टिमर्यादामर्यादाभजनयोः फलमाहुः।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

फलं पुष्टिपुरुषोत्तमसायुज्यं पुष्टिमर्यादाभजनफलमित्यर्थः। वेत्यनादरे। **अधिकारो**

१ तस्या इति पाठः।

रमाप्रार्थितवैकुण्ठक्षीरोदश्वेतद्वीपेषु भगवत्सेवायोग्यदेहप्राप्तिः मर्यादाभजनफलमित्यर्थः। नेति। अत्र फलत्रये कालो न प्रतिबन्धक इत्यर्थः।

विवृतौ **सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिष्वित्यनेन नियामक** इत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः। अलौकिकसामर्थ्यमलौकिकभजनानन्दानुभवे स्वरूपयोग्यतेत्यर्थः।

मूले सेवायां प्रतिबन्धकान्यपराण्याहुः।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्।।२।।

उद्वेगः श्रवणे कीर्तने भगवद्दर्शनसेवायां च जराव्याधिजनितापाटवेन स्वतोप्रवर्तमानानामिन्द्रियाणां प्रसह्य प्रवर्तनाद्विक्षेप इत्यर्थः। **प्रतिबन्धो वेदनिन्दा** म्लेच्छबलिष्ठबहिर्मुखजनितोपद्रवश्च, **साधारणो भगवत्कृतो** बाहिर्मुख्यरूपश्चेति द्विविधोपीत्यर्थः। **भोगो** रूपरसगन्धशब्दस्पर्शानां लौकिकविषयाणामत्यासक्त्या सेवनमित्यर्थः। **त्विति।** एतत्रयं तु प्रतिबन्धकं भवेदेव। कालस्तु न स्यादित्यर्थः।

विवृतौ **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयं उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वेत्यनेन बाधक**मित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः।।२।।

मूले प्रतीकारामाहुः **बाधकाना**मिति।

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा।।३।।

बाधकानामुद्वेगसाधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगसाधनानां **परित्यागः** कर्तव्य इत्यर्थः। तत्र उद्वेगसाधनं प्रसह्येन्द्रिययोजनम्। वेदनिन्दायाः म्लेच्छकृतोपद्रवस्य बलिष्ठबहिर्मुखकृतोपद्रवस्य च जननात् साधारणप्रतिबन्धसाधनं स्वस्मिन् भक्तत्वस्फूर्तिनिबन्धनो हठगर्वविशेषः। लौकिकभोगसाधनं रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः। तथा च तत्साधनत्रयं त्यजेदित्यर्थः। लौकिकालौकिकभोगसाधनयोर्लौकिकभोगसाधनस्य त्यागः कर्तव्यो न त्वलौकिकभोगसाधनस्येत्याहुः **भोग** इति। भोगे यत्साधनद्वयं तत्रैकं तथा तादृशं लौकिकभोगरूपं प्रतिबन्धजननात् त्यक्तव्यमित्यर्थः। **परं** द्वितीयं साधनं पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवारूपं **निष्प्रत्यूहं** निर्गतः प्रत्यूहः प्रतिरूपो भोगो यस्मात्तत्तथा। एवञ्च त्यागहेतोः प्रतिबन्धस्याजननान्न त्यक्तव्यमित्यर्थः। ननु भोगः प्रतिबन्ध इत्युक्तम्। तथा च तज्जननात् कथं न त्यक्तव्यमत आहुः **महानि**ति। पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवालक्षणं साधनं कारयित्वा भगवता दत्तो दुःखविशेषसुखविशेषानुभवलक्षणो ''यच्च दुःखं'' मित्यादिना निरूपितस्य मनोरथस्य विषयतामापन्नो भोगो महान् स्वेष्टतम एवेत्यर्थः। कथमिष्टतमत्वमत आहुः प्रथम इति।

१ अभक्तत्वमितिपाठः।

प्रथमे उत्तमफले **विशते** प्रविष्टो भवति। तथा च फलरूपः। अत एव न प्रतिबन्धरूप इति। तत्साधनं न त्यक्तव्यमिति भावः। रसिकानुभवाद्वेद्य'मान्तरं तु महाफल''मिति श्रीमदाचार्यचरणोक्तिरत्रानुसन्धेयेति दिक्। **भोगेपीत्यपिशब्दात्** प्रतिबन्धेप्येकमेव त्यक्तव्यम्। द्वितीयस्य तु भगवत्कृतत्वेन तत्त्यागस्य शशविषाणायमानत्वादिति ध्येयम्।

विवृतौ **त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः। भोगो द्विविधः। साधारणो भगवत्कृतश्च। तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्यः। अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीत्यनेन विशत** इत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः। त्रयाणां साधनेति साधनपरित्यागान्मूलोच्छेदो भवेदतः पुनरुद्गमो न स्यादित्याशयः। तथा च यत्रैतत्रितयस्य त्याग उच्यते तत्र साधनसहितस्य त्यागो ज्ञेय इत्यभिप्रायः। **त्याज्य एवेति।** लौकिकभोगस्तु असन्दिग्धं त्याज्य एव, परन्तु अलौकिको न त्याज्य इत्याशयः। **तत्राद्य** इति। साधनसहितस्त्याज्यः। तथा च साधारणप्रतिबन्धसाधनस्य गर्वविशेषस्य बुद्ध्या त्यागात् ससाधनस्यापि तस्य त्याग इत्यर्थः।।३।।

मूले भगवत्कृतप्रतिबन्धे यत् कर्तव्यं तदाहुः।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि।

हि निश्चयेन **सर्वथा** सर्वप्रकारै**र्भगवतः** सर्वसमर्थस्यापि **चेदकर्तव्यं** फलदानं न चिकीर्षितं चेदित्यर्थः। ननु भगवदीयकुलोत्पन्नस्य पित्रादिशिक्षया बाल्ये कृतभगवत्सेवाकस्यानवरतमसच्छास्त्राभ्यासादाविर्भूतबाहिर्मुख्यस्यापि ''श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठिता''दितिवचनात् सेवामेव निर्बन्धेन हठेन कुर्वतः किं स्यादतआहुः **गतिर्न हीति**। प्रतिबन्धस्य जागरूकत्वाद्यावत्फलाभाव इत्यर्थः।

विवृतौ भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्, तदान्यसेवापि व्यर्थेत्यन्तेन नहीत्यन्तो ग्रन्थो व्याख्यातः। तथाचोक्तं निबन्धे ''सर्वथा चेद्धरिकृपा न भविष्यति यस्य हि। तस्य सर्वमशक्यं स्यान्मार्गेस्मिन्सुतरामपी''ति मूलमुक्त्वा स्वयमेव व्याचचक्षिरे ''परमत्र न सर्वेषां मुख्यफलधिकारः, किन्तु येषु भगवत्कृपा। कृपापरिज्ञानां च मार्गरुच्या निश्चीयत'' इत्यनेन। इत्थञ्चैतन्मार्गारुचिरेव भगवत्कृतप्रतिबन्धः। इदमेव बाहिर्मुख्यमितिविभावनीयम्। ''बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदत्वि''ति श्रीमदाचार्यचरणोक्ते''रेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषती''तिश्रुतेश्च भगवानेवासच्छास्त्रप्रवर्तनेनासुरावेशं सम्पाद्य बाहिर्मुख्यरूपं प्रतिबन्धं करोतीत्यप्यनवरतं निरन्तरमनुसन्धेयम्। तदान्येति। यदा बाहिर्मुख्यमाविर्भूतं तदा कृता तु व्यर्थैव। किन्त्वन्या वाल्पे कृता सापि व्यर्था निःफलेत्यर्थः।

१ भगवदीयत्वेनेति पाठः। २ बलिष्ठत्वादिति पाठः।

मूले अतः परं तेन किं विधेयमत आहुः।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्।।४।।

यथा यत्प्रकारको वा **विकल्पेन त**त्त्वनिर्धारस्तज्जीवनिष्ठस्यासुरत्वस्य निश्चयः। तथा च आवेशासुरत्वनैसर्गिकासुरत्वयोर्यादृशासुरत्वप्रकारको निश्चयस्तस्मिन् सति विवेको ज्ञानं **साधनं** शौकानुत्पत्तौ कारणं **मतं** सर्वप्रमाणसम्मतमित्यर्थः। वेति विकल्पवाचकमव्ययं देहलीदीपन्यायेनोभयत्रान्वेति। तथा च तत्त्वनिर्धारोपि वैकल्पिकः, साधनमपि वैकल्पिकमेव। इत्थञ्चावेशासुरत्वप्रकारको यदि निश्चयः तदा संसृतिरेवेतिभावः। वक्ष्यन्ति चेममर्थं **द्वितीये सर्वथेत्यनेन।**

विवृतौ **तदा आसुरोयं जीव इतिनिर्धारः। तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेतिविवेक** इत्यनेन **मत**मित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः। तदेति। यदा बाहिर्मुख्यमाविर्भूतं तदैवेत्यर्थः। विवेकः साधनमिति व्याचक्षते। **तदा ज्ञानेनेति।** यद्यावेशासुरत्वनिर्धारस्तदा **ज्ञानमार्गेण** ज्ञानजनकोपायेन **स्थातव्यं** वर्तितव्यम्। शोकाभावाय शोकानुत्पत्त्या इति। अस्मिन्नर्थे विवेकः साधनं भवतीत्यर्थः। तथा च सत्यलोकस्थितिरक्षरानन्दो वा नास्य फलमिति भावः। यद्यप्येवंविधदुर्भगः स्वमार्गबहिर्मुखोन्धन्तमः प्रविशतां का क्षतिः? तथापि स्वमार्गीयभगवद्भक्तरेतोजन्तुरयमिति तदुद्भवदयार्द्रहृदयाः श्रीमदाचार्यचरणास्तादृशेप्युपदिशन्तीति ध्येयम्।।४।।

मूले लौकिकभोगस्य साधारणप्रतिबन्धस्य च त्यागे प्रयोजकं रूपमाहुः।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ।

सविघ्न आधिव्याधिलक्षणप्रत्यूहसहितः **अल्प** आशुतरविनाशीत्यर्थः। **साधारण** इति। साधारणो वेदनिन्दादिः। साधारणप्रतिबन्धस्य तदाहुः घातेति। **घातकः** घातजनकः। **बलात्** सामर्थ्यात्। **स्यात्** भवेत्। तथा च साधारण प्रतिबन्धो बलवद्घातकः स्यादित्यर्थः। तथा हि वेदनिन्दात्वस्य बलात् हीनेषु जन्मरूपं घातं करोति। म्लेच्छबहिर्मुखकृतोपद्रव्यश्चा सर्वस्वहानिं शरीरघातं च बलादेव कुरुते। अतो हेतोः साधारणप्रतिबन्धोल्पत्वात् सविघ्नत्वाच्च भोगः सदा निरन्तरमेतौ प्रतिबन्धकौ मतौ साधनसहितौ त्याज्यत्वेन सम्मताविति भावः।

विवृतौ **साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकाङ्क्षायामाह सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति। सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्यः।**

१ 'बाल्ये' इत्यपि पाठः। २ प्रवेशं काङ्क्षतीतिपाठः। ३ विघ्नेति पाठः।

एतौ **सदा प्रतिबन्धका**वित्यनेन **मता**वित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः। **साधारण** इति। साधारणो वेदनिन्दादिः साधारणप्रतिबन्धः **भोगो** लौकिकरूपरसादिसेवनं **कथं कुतो** हेतोरित्यर्थः। **सविघ्नत्वा**दिति। द्वाभ्यामाभ्यां हेतुभ्यां भोगस्त्याज्यः। शिष्टाद् घातकत्वरूपाद्धेतोः साधारण प्रतिबन्धस्त्याज्य इत्याशयः। ननु सविघ्नत्वमल्पत्वं च भोगापकर्षजनकम्, न तु सेवायाः। तथा साधारणप्रतिबन्धनिष्ठं घातकत्वं चतुर्वर्गस्यापकारजनकम्, न तु विशिष्य सेवाया एवेति किमनयोः त्यागप्रयोजकं रूपमित्याशमायामाहुः **एता**विति। प्रतिबन्धकत्वमेव त्यागप्रयोजकम्। सविघ्नत्वादिकथनं तु भोगसाधारणप्रतिबन्धस्थदोषोद्घाटनार्थम्। तथा च सेवाप्रतिबन्धकत्वात्तु त्याज्यावेव। निसर्गदुष्टत्वादपि त्याज्यावित्याशयोनुसन्धेयः।

आवेशासुरस्य विवेकसाधनमिति प्रागुक्तमिदानीं नैसर्गिकासुरस्य का गतिरित्याकाङ्क्षायामाहुः।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्यां संसारनिश्चयात्।।५।।

अस्योत्पत्तिकाल एव भगवताऽसुरत्वसम्पादनान्नैसर्गिकासुरः। तथा च भगवान् तस्मिन् तदानीमेव स्वमार्गात् सर्वप्रमाणिकमार्गेभ्यश्च बाहिर्मुख्यलक्षणप्रतिबन्धं कृतवान्। इत्थञ्च वेदनिन्दादिसाधारणप्रतिबन्धाद् **द्वितीये** भगवत्कृते एवंविधप्रतिबन्धे निर्धारिते सतीत्यर्थः। **चिन्ता** जन्ममरणदुःखनिवृत्तिर्मम केन प्रकारेण स्यादिति विचारः **सर्वथा सर्वप्रकारेण** प्रमाणैर्युक्तिभिश्चेति यावत्। सा त्याज्या न कर्तव्या। तत्र हेतुः। संसारनिश्चयात्। संसृतेरवश्यंभावस्य निश्चितत्वादित्यर्थः। तथा च ''दैवी सम्पद्विमोक्षाय'' ''निबन्धायासुरी मता'' इत्यादिप्रमाणै''स्तस्मादपरिहार्येर्थे न त्वं शोचितुमर्हसी''त्यादिप्रामाणिकयुक्तिभिश्चाधेः समाधिः सम्पादनीय इति भावः।

विवृतौ **ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाह द्वितीय** इति। **द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्ध** इत्यनेन **निश्चयादि**त्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः। **ज्ञाने**ति। ''प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा'' इति भगवद्वचनात् सहजासुराणां ज्ञानमार्गेपि स्थितिर्न भवतीत्याशयः।।५।।

मूले अलौकिकस्य दाने हीत्यनेन भगवतः स्वरूपानन्ददित्सायां मनोरथः सफलो भवेदित्युक्तम्। यदि स न सिध्येत् तदा का गतिरित्याकाङ्क्षायामाहुः।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

नाद्ये त्वित्वन्वयः। तथा चाद्याभावे त्वित्यर्थः। इत्थञ्च तत्फलमनोरथाभावे तु भगवतो भजनानन्ददित्सा नास्तीति भावः।

१ विशेषत इति पाठः। २ स्वभावदुष्टत्वादिति पाठः।

विवृतौ **आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्तीति तदा सेवा नाधिदैविकीत्युक्तं भवतीत्यनेन नास्ती**त्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः। **न त्वाद्य इति मूलमाद्यफलाभाव** इत्यनेन व्याख्याय **दातृता नास्तीति** मूलं व्याचक्षते भगवतो दातृत्वं **नास्तीति**। फलितार्थमाहुः **तदे**ति। यदा फलसहितस्य मनोरथस्याभावस्तदाधिदैविकीसेवा भजनानन्दो न भवेदिति। अयमर्थो न त्वाद्ये दातृता नास्तीति मूलेन कथितोस्तीत्यर्थः। इत्थञ्च प्रेमान्तसेवया पुरुषोत्तमसायुज्यं भवतीति भावः।

मूले **बाधकानां परित्याग**इत्यनेन तत्साधनत्यागपूर्वकस्तत्प्रतिबन्धकतत्त्याग उक्तः। तत्र लौकिकभोगसाधनीभूतरूपरसगन्धस्पर्शशब्दानां त्यागे प्रतिबन्धकमाहुः तृतीये **बाधकं गृहम्।** भोगस्य तृतीयप्रतिबन्धकत्वात् तत्साधनमपि तृतीयं साधनं तत्परित्यागोपि तृतीयः परित्यागः। तथा च तस्मिन् गृहं प्रतिबन्धकमित्यर्थः। इत्थञ्च रूपादित्यागो गृहत्यागाधीन इति भावः।

विवृतौ **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग** इत्यनेन गृहमित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः। **भोगेति। भोगाभावः** ससाधनभोगपरित्यागः इत्यर्थः।

मूले पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादामर्यादाभजनानां फलं प्रतिबन्धकं तत्प्रतीकारं चोक्त्वा व्याख्याय चेदानीं सेवामुपदिशन्ति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः।

अवश्या स्वस्य वश्या न। तथा च स्वकृत्यसाध्या भगवदनुग्रहैकसम्पाद्येति यावत्। **इयं** श्रीमदाचार्याणां हृदि अनवरतमुत्पद्यमानत्वात् साक्षात्कृतस्वरूपा भावनारूपा मानसी सेवा, **सदा** निरन्तरं, **भाव्या** सम्पादनीयेत्यर्थः। तथा च स्वरूपानन्दसाधनीभूतभावविशेषसिध्यर्थमनवरतं भावना कर्तव्येत्याशयः। इदमेव मनसः प्रधानं कार्यमित्याहुः **सर्व**मिति। मनसा यदन्यत् किञ्चित् प्रमारूपमपि कार्यं जन्यते तत् सर्वमपि भजनानन्दापर्यवसायित्वाद् **भ्रम** एवेत्यर्थः।।६।।

तर्हि चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः किं सम्पादनीयमित्याकाङ्क्षायामाहुः।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

मनसोनुचरैश्चक्षुरादिभिरि**न्द्रियैस्तत्कार्यं** मनःकार्यमेव सम्पादनीयम्। तथा च श्रीमदाचार्यमार्गपक्षपातादविरतं सेव्यस्वरूपेष्वाविर्भूतस्य समल्पप्रतिभातस्य वा भगवतो दर्शनसेवादिना स्वस्वव्यापारेण मनःकार्यरूपा भावनाख्या मानसी सेवा सम्पादनीयेतिभावः। इत्थञ्च चक्षुरादिसर्वेन्द्रियैरपि स्वस्वव्यापारो भगवति सम्पादनीयो, ''भगवता सह संलाप'' इत्याद्युक्तप्रकारेणेति ध्येयम्। ननु कियच्चिरमेवंकृतिरतआहुः पुष्टाविति।

१ सर्वानिति पाठः। २ स्वसाधनसाध्या नेति पाठः।

पुष्टिर्भावः तस्मिन् सिद्धे सति स्वरूपानन्दः सत्वरमेव भवेन्न तु विलम्बं कुर्यादित्यर्थः। तथा च भावोत्पत्तिपर्यन्तमेवंकृतिरितिभावः।

पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इतिन्यायात् कदाचित् कमपि प्रतिबन्धकमाशङ्क्यतत्प्रतीकारमाहुः।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः।।७।।

गुणाः प्राकृतसत्वरजस्तमांसि, तत्कृतक्षोभोमार्गान्तररुचिः, लौकिकविषयलोभैतन्मार्गारुचय इत्यर्थः। **एत**देवास्मदुक्त'मवश्येयं सदे''तिपद्यमेव द्रष्टव्यम्। तथा चैतत्पद्योक्तसाधनेनैव सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिरितिभावः। ननु सत्सु प्राकृतगुणेषु निरन्तरक्रियमाणायामपि भावनायां भावो नोत्पत्स्यत इति चेत्? सत्यम्। यावत्कालं मनस्याविर्भूय भगवानन्तःकरणसम्बद्धो न भवति तावदविद्याया विद्यमानत्वाद् गुणा अपि सन्ति। तथा चानिशमेवंकृतौ कृपालुर्भगवानाविर्भूयान्तःकरणसम्बद्धः सन् अविद्यामेव नाशयेत्, तदा सुतरां गुणनाशः, ततो निरन्तराया भावोत्पत्तिरितिध्येयम्।।७।।

स्वोक्तप्रमेये निःसन्दिहानेनैव स्थेयमिति स्वानुपदिशन्ति।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः।

कुसृष्टिः दूषणाभासः, **अत्रा**स्मदुक्तौ, वेत्यनादरे, वस्तुतस्तु नोत्पत्स्यत एवेत्याशयः। **काचिद्दुः**सङ्गेन भगवदस्मरणनिबन्धनक्षणिकासुरभावेन वा **काचिदुत्पद्येत** जायेत चेद्, **वै** निश्चयेन, **स** तु **भ्रम** एव भ्रान्तिरेवेत्यर्थः। तथाचोत्तरक्षणोत्पत्स्यमानविशेषदर्शननाश्यत्वादकिञ्चित्करेतिभावः।।७

इतिश्रीविठ्ठलेश्वरात्मजश्रीघनश्यामतनयश्रीगोपेशगोस्वामिविरचिता सेवाफलविवृतिटिप्पणी सम्पूर्णा।।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीदेवकीनन्दनविरचितविवृतिटिप्पणीसमेतम् ।

करुणाचार्यचरणवरणं शरणं मम। यत्पथे सुकथे सेवाफलं कृष्णः प्रयच्छति।।१।।

ननु स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणसेवायाः फलान्तरकथनं कथमुपपद्यत इति चेत्। इत्थम्। यावज्जीवं तथा क्रियमाणसेवया देहावसाने जीवस्य या गतिर्भवति सात्र फलपदेनोच्यते। तच्च फलमाधुनिकभजनानुस्यूतसर्वात्मभावप्राप्य विशिष्टभजनानन्दात्मकमेवेति न तस्य सेवातिरिक्तत्वमायाति येन फलान्तरत्वमुच्येत। ''यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्'' इति भगवद्वचना''दन्ते या मतिः सा गति''रिति न्यायाच्च सेवाफलं सेवैवेति नोक्तविरोधः शमनीयः। तत् कीदृशं किमिति जिज्ञासायामाचार्याः किञ्चित् स्वमतसिद्धं तत् सार्धैः सप्तभिः श्लोकैर्निरूप्य सुगमत्वाय स्वयमेव विवृण्वन्ति।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

यादृशी सेवनेति। **प्रोक्ते**ति। मयेत्यध्याहार्यम्। तेन स्वसिद्धान्ते यादृशी सेवना मया प्रोक्ता, तादृशी सेवना विवरणे वक्ष्यमाणफलप्रापिका भवति, न तु प्रमाणान्तरसिद्धा, मतान्तरसिद्धा वा तथा। अन्यथा तत्र तत्र क्वचिदुक्ता प्रसिद्धा भवेत्। अत्र तु साक्षादाचार्योक्तत्वादनुभवसाक्षिकत्वाच्च न काचिदसम्भावनेति ज्ञाप्यते। सापि यावज्जीवमविच्छेदेन कृता, स्वफलदानं तु कियत्कालं कृत्वा परित्यक्तापीत्याहुः तत्सिद्धाविति। सिद्धिरत्र यावज्जीवं निर्वाहः। तदुक्तमाचार्यचरणैः ''सेवायां वा कथायां वे''ति। फलमिति। एकवचनं त्रितयाभिप्रायेणेत्याहुः **सेवायां फलत्रय**मिति। अत्रायं भावः। भक्तिमार्गे पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन जीवेषु भगवदङ्गीकारः त्रिविधः। तेनाधिकारिभेदेन सेवा त्रिविधा, ततः फलमपि त्रिविधं क्रमेणोक्तम्। तत्रादौ पुष्टिसेवाफलमाहुः अलौकिकसामर्थ्यमिति। अत्रायमाशयः। श्रीमद्व्रजस्थोक्तरीत्या सर्वात्मभावैकलभ्यभजनानन्दानुभवलक्षणं फलमलौकिकमुच्यते। तस्येतरप्रमाणागोचरत्वमितरसाधनाप्राप्यत्वमलौकिकत्वम्। तदनुभवयोग्यतालक्षणोधिकारश्च सामर्थ्यपदेनोक्तः। तस्यातिगोप्यत्वाय तथोक्तिः। द्वितीयफलं सायुज्यम्। तदत्र पुरुषोत्तमे वेदितव्यम्, न त्वक्षरे। अक्षरसायुज्यं तु केवलमर्यादायां ज्ञानादिनापि भवतीति ततः पुष्टेर्विशेषकथनावश्यकत्वात्।

सायुज्यानन्तरमपि पुष्ट्या कदाचिदाद्यमलौकिकं फलमपि भगवान् प्रयेच्छेदित्यपि ज्ञेयम्। अन्यथा पुष्टिसेवाफलं सायुज्यमात्रं न वदेयुः। भक्तौ तद्वासनाया अभावात्। ''ये यथा मां प्रपद्यन्त'' इति भगवन्नियमाच्च। तेन पुष्टिमर्यादायामादौ **सायुज्यम्,** मध्ये भजनानन्दानुभवः, अग्रे पुनः पूर्वसायुज्यमित्युक्तं भवति। अतो मध्यमफलत्वम्। तृतीयं फलं वैकुण्ठादिदेहः आदिपदेन भूमावपि तथा भावनायां तादृशदेहप्राप्तिरुक्ता। तत्राप्युच्चनीचदेशभेदा बहुवचनेनोक्ताः **व्यापिवैकुण्ठस्य** सायुज्यापेक्षया दुर्लभत्वेन साधारणफलत्वकथनस्यायुक्तत्वादत्र रमाप्रार्थित एव स इत्यवगम्यते। तत्र कदाचिन्नाद्यफलसम्भावनेति साधारण फलत्वम्। अत एव वैष्णवव्रतानामेकादश्यादीनां फलत्वेन स्मृतिपुराणेषु स एवोच्यते।

ननु सायुज्यवैकुण्ठयोः प्रमाणसिद्धत्वेन तदर्थं जीवप्रयत्नः सम्भवति, आद्यफलस्य तु लोकवेदातीतत्वेन प्रमाणाद्यगोचरत्वान्न स्वकृतिसाध्यत्वम्, यत् पुनः तत्साधनं तस्यापि तथात्वम्, अतः कथमाद्यमनोरथः सिध्येदित्यत आहुः अलौकिकस्य दान इति।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः।।१।।
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।।

अलौकिकमाद्यफलं तस्य **दाने,** अर्थाद्भगवता कृते सति तन्**मनोरथः** सिध्येत्, न त्वन्यथापीत्यर्थः। **आद्य**इति। सायुज्यवैकुण्ठमनोरथापेक्षया स **आद्य** इत्यर्थः। **अल्प** इति पाठे यद्यपि लीलामध्यपातिभक्तानुभवैकवेद्यफल सबन्धिमनोरथो जीवस्य साधनतः स्वरूपतश्चाल्प एव। अप्यर्थे चकारः। तथा चाल्पोपि तथापि स्वतः प्रभुदानेन तत्सिद्धिः। सिध्येदिति प्रार्थने लिङ्। आचार्यप्रार्थनया प्रभुः सम्पादयेदेवेति भावः। आद्यफलस्य स्वरूपैकसाध्यत्वे प्रसिद्धिमाह **हि**शब्दः। ननु भगवानपि तादृशाधिकाराभावे मनोरथं कथं पूरयेदित्यत आहुः **न काल** इति। अत्र फले इत्यधिकारे वा।।१।।

अग्रे प्रतिबन्धकत्रयोक्तिरिह साधनदशायामेव। तदुक्तं मूले **बाधकानां परित्यागेति।**

उद्वेगः प्रतिबन्धा वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्।।२।।
बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्।
निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा।।३।।

तद्विवरणं **त्रयाणां साधनपरित्याग** इति। साधने सति स्वरूपतः

त्यक्तुमशक्यत्वात्। **भोगप्येक**मित्यादि **विशते सदे**त्यन्तविवरणं **भोगो द्विविध** इत्यारभ्य प्रविशतीत्यन्तेन। तदनुसारेण मूलमेवं योजनीयम्। त्यजेदिति क्रियापदमध्याहार्यम्। यथा प्रतिबन्धद्वये एकस्यात्याज्योपरो न, तथा **भोगेपि एकं** लौकिकं भोगं त्यजेदपरमलौकिकं न। यतो **निःप्रत्यू**हमनन्तरायभूतम्। तत्र हेतुः। **महान्**निति। अलौकिकभोगः स्वरूपतो लौकिकत्वादल्पोपि फलतो महान्, अलौकिकत्वात्। अतो न त्याज्य इति भावः। अलौकिकत्वे निमित्तमाहुः **प्रथम** इति। प्रथमे आधुनिकभजने सदा निरन्तरं विशते, भजननिर्वाहकत्वेन तदङ्गतां प्राप्नोतीत्यर्थः। एतदेव विवरणे स्फुटीकृतम्। **अलौकिकभोगस्तु फलानां** सेवाफलाङ्गभूतवस्तूनां **मध्ये** प्रथममङ्गं प्रतिबन्धाभावस्तत्र विशतीति न तत्त्यागः। तथा चोपपादितमेकादशस्कन्धे। ''कायेन वाचे''ति श्लोकविवरणे।।३।।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्।।४।।

अकर्तव्यं भगवत इति श्लोकविवरणं **भगवत्कृतश्चेत्या**रभ्य विवेक इत्यन्तेन। अयमर्थः। आसुरस्यापि दैवाद्भगवदीयसङ्गे जाते सेवायां प्रवृत्तिर्भवति। तेन केनचित्प्रकारेणानिवार्यप्रतिबन्धे जाते स भगवत्कृत इति ज्ञातव्यम्। तेनाग्रे फलाभावश्च। तेनान्यकृतापि सेवा प्रतिबन्धात् पूर्वं कृता सापि व्यर्था। तस्यासुरत्वनिर्धारश्च। तदा तज्जनितशोकाभावाय ज्ञानमार्गेण सर्वं तत्त्वं बुद्ध्वा स्थितिः विवेकः साधनम्। यद्यप्यासुरप्रसङ्गोत्र न वक्तव्यः, तथापि कश्चिदेवं भगवदीयेष्वपि दृश्येत चेत्तदा तथा भावनीयम्, न तु स्वीयस्य भगवानेवं करोतीति प्रभौ दोषारोपः कर्तव्य इति ज्ञापयितुं तदुक्तिरिति ज्ञायते।।४।।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्।।५।।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

सविघ्नोल्प इत्यस्य विवरणे **सविघ्नत्वादल्पत्वा**दिति। साधारणभोगः **सविघ्नो** विघ्नसहितः। तादृशोप्य**ल्पः**, स्वरूपतः फलतश्च। सोपि न त्यज्यते चेत्तदा घातकः सेवाप्रतिबन्धकः स्यात्। अतः सर्वथा त्याज्यत्वाद्बलादाग्रहादपि एतौ साधारणभोगप्रतिबन्धकौ मतौ, त्याज्याविति शेषः। तदुक्तं विवरणे सदा प्रतिबन्धकाविति। **द्वितीयो भगवत्कृतः** प्रतिबन्धः। **तत्र ज्ञानमार्गेण स्थातव्यमिति चिन्तानिवृत्तिसाधनं** पूर्वमुक्तम्। तदसम्भवे साधनान्तरमाहुः द्वितीये सर्वथेति श्लोकार्धेन। तदाभासो ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाहेति। तत्प्रतीकोग्रे

द्वितीय इति। **विवरणमाद्यफलाभाव** इत्यादि भवतीत्यन्तम्। आद्यफलं जीवस्य दैवत्वं, तदभावे **भगवतो दातृता नास्ति,** तदा आधिदैविकी फलसम्बन्धिनी सेवापि नेत्यर्थादुक्तं भवति। तत्सर्वं द्वितीयप्रतिबन्धे जाते ज्ञात्वा सर्वथोक्तफलविषयिणी चिन्ता त्याज्या। तत्र साधारणो हेतुः। **संसारनिश्चयादिति**। ''तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्'' इति भगवदुक्तसंसारस्य निश्चयादन्यथा न भवतीति **सर्वथेत्युक्तम्। न त्वाद्य** इति। **आद्ये** पूर्वोक्तसाधारणप्रतिबन्धे दातृता भगवतो नास्तीति न, किन्तु वर्तते, अतः तन्निवृत्तये चिन्ता कर्तव्या, न तु द्वितीय इव सर्वथा त्याज्येति भावः। एवमाद्यद्वितीययोर्व्यवस्थामुक्त्वा तृतीयः साधारणभोगकृतः प्रतिबन्धस्तत्र कर्तव्यमाहुः। **तृतीये बाधकं गृहमि**ति। अलौकिकभोगेन साधारणभोगपरित्याग आनुषङ्गिकः पूर्वमुक्तः। अन्यथा अलौकिकभोगो न स्यात्। उभयोरेकाधिकरणत्वाभावात्। यदि साधारणभोगं त्यक्तुं न शक्नुयात् तदा सेवाप्रतिबन्धकत्वेन तन्मूलभूतं गृहं त्यजेदित्याशयेन तद्विवरणं **भोगाभावस्तदेत्या**दि।

ननु त्यागतः प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रेण सेवाया असम्भवे तदधिकारिणां कथं तत्फलप्राप्तिः। तदभावे च द्वितीयतुल्यता स्यात्। जीवस्य दैवत्वमपि व्यर्थं भवेत्। तस्मादत्र त्यागोक्तितात्पर्यं किमिति न बुध्यत इति चेत्, इदमाभाति। सेवाधिकारिणां मध्ये येषां गृहमनुकूलम्, तेषामन्यतः प्रतिबन्धः साधारणः, तेन तन्निवृत्तिः कर्तुं शक्या। ततः सेवया तत्फलप्राप्तिः। भोगश्च तेषामप्रतिबन्धहेतुरलौकिकत्वादिति पूर्वमुक्तम्। येषां पुनः गृहमेव प्रतिबन्धकम्, तेषां तत्परित्यागादेव लौकिकभोगनिवृत्तिः। त्यागोपि सक्क्यासनिर्णयोक्तप्रकारेण भक्तिमार्गीयो ज्ञेयः, न तु कर्ममार्गीयो ज्ञानमार्गीयो वा। एवं सति तत्फलप्राप्तिरग्रे तेषामपीतिमनने तु नोक्तविरोधः शमनीयः।।५।।

अग्रिमश्लोकद्वयस्य विवरणाभावादेवं योजना।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः।।६।।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः।।७।।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः।।७।।।।

इयमुक्तरीतिः। **अवश्या** स्वतो भावयितुमशक्यापि मदुक्तत्वात् **सदा भाव्या।** अवश्यं भाव्येति वा। यत्र यथा दृश्येत तत्र तथा भाव्येत्यर्थः। ततः किमित्यत आहुः **सर्व**मिति। उक्तरीति**तोन्यत् सर्वं मनोभ्रम** इति ज्ञायत इत्यर्थः। सर्वैः कथमेवं नाङ्गीक्रियत इत्याशङ्क्ययाहुः **तदीयैरि**ति। भ्रमसम्बन्धिभिरासुरैस्तत् **कार्यं**

कर्तव्यमित्यर्थः। भक्तिमार्गीयैस्तु मदुक्तिभावनायां विलम्बो न कर्तव्य इत्याहुः **पुष्टौ नैवे**ति कदाचिदासुरस्यापि सेवाप्रतिबन्धे जातेपि भगवद्गुणश्रवणादिना प्रेमलक्षणं पुलकादि दृश्यते तत्र किं भावनीयमित्यत आहुः **गुणक्षोभेपी**ति। क्षोभोश्रुपुलकादिः, स तु गुणवस्तुस्वभावादासुरस्यापि भवतीति गुणमाहात्म्यमेव। अत एतत्पूर्वोक्तमेव तत्रापि **द्रष्टव्यं** भावनीयमित्यर्थः। उक्तविश्वासार्थमाहुः **मे मतिरि**रिति। **मतिः** सम्मतिः। भ्रमस्वरूपमाहुः **कुसृष्टिरि**रिति ।।७ ।।

यथामति कृता सेवाफलोक्तिविवृतौ मया ।टिप्पणी पर्वणीवेन्दुः प्रकाशयतु सर्वतः ।।१ ।।

यदत्रानुचितं किञ्चिदलेखि मतिमान्द्यतः ।।क्षम्यतां तत्प्रहस्यार्यैः शिशौ धौर्तमिवेप्सितम् ।।२ ।।

इतिश्रीदेवकीनन्दनकृता सेवाफलोक्तिविवृतिटिप्पणी समाप्ता ।।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीहरिरायकृतसेवाफलोक्तिविवृतिसमेतम् ।

श्रीकृष्णं कुलदैवतं तदनु च श्रीवल्लभाख्यान् निजान् ।
आचार्यानथ विट्ठलेश्वरमहं नत्वा प्रभुं सर्वथा ।।
श्रीगोविन्दमतीवभावविवशं तातं स्वमर्यादया ।
ख्यातं मत्फलजातहेतुमधुना किञ्चिद्वदाम्यक्षमः ।।१ ।।

अथ श्रीमदाचार्याः स्वीयानां बहुलग्रन्थावलोकनप्रयासमसहमानाः सङ्क्षेपेणैव स्वमार्गीयसेवाफलप्रतिबन्धसाधनानि निरूपयन्तः प्रथमं फलं निरूपयन्ति **यादृशी सेवनेति।**

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी यादृक्प्रकारिका स्वतःपुरुषार्थत्वेन कालापरिच्छेदेनावश्यकर्तव्यत्वेनाकरणेप्रत्यवायजनकत्वज्ञानेन क्रियमाणस्व साधनभूततनुवित्तयुत सेवाद्वययुतमानससेवना भावरूपा सदानन्दसेवा मया प्रकर्षेण मुख्यतया फलरूपतया चोक्ता निरूपिता सिद्धान्तमुक्तावल्यां ''चेतस्तत्प्रवणं सेवे''ति। तस्याः सिद्धौ यावज्जीवनिर्वाहेण प्रपञ्चविस्मृतियुततदासक्त्या व्यसनरूपत्वसिद्धौ यत्फलं तदुत्पाद्यं फलत्वेनाभिमतम्, तदुच्यते निरूप्यत इत्यर्थः। ननु सेवायाः सर्वत्र ग्रन्थेषु फलरूपत्वोक्तेस्तत्फलोक्तिरनुपपन्नेत्याशङ्क्ययाहुर्विवरणे **सेवायां फलत्रयमि**ति। सेवायामेव क्रियमाणायामेतत्रयं भवतीति। तदुत्तरमपि सेवासत्त्वेन तन्मध्यपतिततया न तस्याः स्वतःपुरुषार्थत्वहानिरित्यर्थः। अत एव सेवायामित्यत्र षष्ठीमनादृत्य सप्तमी विभक्तिरुक्ता। तत्रयमेवाहुः **अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्वि**ति। तत्रालौकिकसामर्थ्यं हि भगवतः कोटिसूर्याग्निरूपस्यात्यन्तिकफलदित्सायां सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रभोर्हृदयप्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यम्। तच्च न शरीरान्तरे सम्भवतीति तादृशसामर्थ्यवच्छरीरप्राप्तिर्मृग्या। सा च प्रभुणैवापारकरुणेनैव सम्पाद्यत इति प्रभुसम्पादितालौकिक शरीरनिष्ठस्वरूपानुभवक्षमसामर्थ्यमेव प्रमाणाननुरोधिप्रमेयसाध्यं मुख्यं फलमित्यर्थः। अत एवोक्तं प्रभुभिः श्रीयमुनां प्रति प्रार्थयद्भिः ''र्ममास्तु तव सन्निधौ तनु नवत्व''मिति। नवत्वं च तादृक् सामर्थ्यमेव। अत एव तनुनवत्वमेवोक्तं न तु नवतनुत्वमिति। तथा च यथा व्रजरत्नानां

१ ज्ञापनेनेति पाठः।

सर्वदा लीलासुखमनुभवतामन्ते तादृक् सामर्थ्यमेव सम्पादितं येन स्वदत्तस्वरूपानुभवो निष्प्रत्यूहं भवति नान्यावस्था। तथान्यत्रापि तदनुग्रहतः परमानुरागेण तथा फलदित्सायां पूर्वदेहं स्ववियोगाग्निना शुद्धं विधाय तस्यैवालौकिकत्वं सम्पाद्य तत्र तादृक् सामर्थ्यं प्रकटयतीत्यलौकिकसामर्थ्यमेव मुख्यं फलमितिभावः।

प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्यं मध्यमं फलमाहुः सायुज्यमिति। सह युनक्तीति सयुक् तस्य भावस्तत्त्वम्। भगवता सह सततस्थितिरेव सार्वदिकसंयोगरसानुभव इति यावत्। तथा च लक्ष्मीवदन्तर्गृहगोपिकावद्वा भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपदखिलपुण्यपापक्षयद्वारा पाञ्चभौतिकदेहं निवर्त्यालौकिकं दत्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो निष्कास्य स्वलीलानुभवः प्रभुकारितो मध्यमं फलमिति भावः। मध्यमत्वं चास्य विप्रयोगरसानुभवमपेक्ष्य तदुत्कर्षस्य सहृदयानुभवसाक्षिकत्वात्।

उभयसाधारणमधिकाररूपं तृतीयं फलमाहुः **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति।** सेवायां क्रियमाणायामेवानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात् सेवानुपयोगे अन्यैः तादृशसाक्षाद्रसानुभवकर्तृभिः क्रियमाणायाः सेवाया उप समीपे योगः, तद्वत्पक्ष्यादिशरीरप्राप्तिस्तृतीयं फलमित्यर्थः। तस्य चान्तररमणानुकूलत्वात् फलत्वम्, बहिः साक्षात् सम्बन्धाभावादधिकाररूपत्वमित्यर्थः। अत एव ''प्रायो बताम्बे''त्यत्र मुनीनां पक्ष्यादिशरीरप्राप्त्या स्वाधिकारानुसारेण सेवा तद्रसानुभवयोग्यता चेति निरूपितम्।

एवं फलत्रयं निरूप्य आद्यफलस्य दुर्लभत्वं निरूपयन्तः फलत्रैविध्ये हेतुं च समर्थयन्तो दानमात्रसाध्यत्वं प्रथमफलस्य निरूपयन्ति **अलौकिकस्येति**।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ।।१।।

अलौकिकस्य स्वविरहानुभवक्षमसामर्थ्यस्य **दाने** भगवता स्वाग्रहेण दुःखानुभवरूपतया तदनिच्छायामपि तथा सम्पादने, चकारात् तद्देहेन्द्रियादिषु स्वस्वरूपस्थापने सति आद्यः प्रथमफलविषयकः संस्काररूपसमर्पणसमयक्रियमाणो **मनोरथ**स्तापक्लेशानन्दप्राप्तिरूपः **सिध्येदि**त्यर्थः। **ही**ति युक्तोयमर्थः। यतो लीलास्थितेष्वपि केषाञ्चिदेव रासमण्डलमण्डनायमानानां तद्दानम्। अत एवान्तर्गृहगतानां प्रतिबन्ध इत्यतः केवलप्रभुदानैकसाध्यत्वमिति भावः।।१।।

अतः परं सायुज्यसेवोपयोगिदेहाप्तिरूपयोः फलतदधिकाररूपमध्यमावान्तरफलयोः पूर्वफलवदनियतत्वाभावात् कदाचित् कालसाध्यत्वं ज्ञानादीनामिवाशङ्क्ययेत **तदभावार्थमाहुः फलं वा ह्यधिकारोवे**ति।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

फलं सायुज्यम्। **अधिकारः** सेवोपयोगिदेहाप्तिः। अत्रैतदुभयोः फलयोः **कालो न नियामकः** सत्यादिरूपः फलदः कलिरूपः प्रतिबन्धको वा नेत्यर्थः। एतेन कालानियम्यत्वेनैतत्फलस्य नित्यत्वमपि सूचितम्। अत एव कपिलदेवैरपि ''नो

निमिषो लेढि हेतिरि''ति निरूपितम्। अत्र वाशब्दद्वयमधिकारस्यापि फलरूपतया तत्समकक्षत्वबोधनाय।

एवं सोपपत्तिकं फलत्रयं विविच्य प्रतिबन्धकत्रयं विवेचयितुं निरूपयन्ति उद्वेग इत्यादि।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ।।२।।

मूले **बाधक**मित्येकवचनेन मिलितानामेव बाधकतेत्याशङ्क्ययाहुः विवरणे **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमि**ति। **उद्वेगो** नाम मनसः सेवायां क्रियमाणायामुत्कृष्टो वेगः सर्वथा तत्रास्थिरता बाहिर्मुख्यमिति यावत्। स च सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकतया प्रतिबन्धकः। तस्मिन् सति क्रियमाणसेवायाः केवलकायिकीत्वान्मानसीत्वाभावेन प्रतिबन्धेनानाधिदैविकीत्वात्। एवमुद्वेगं निरूप्य प्रतिबन्धभोगौ निरूपयन्तः प्रथमं प्रतिबन्धस्यानिवार्यत्वेन पाठक्रममनपेक्ष्यार्थक्रमेण भोगं निरूपयन्ति भोगो द्विविध इति। भोगे द्वैविध्यं **लौकिकालौकिकभेदेने**ति तदाहुः लौकिकोऽलौकिकश्चेति। तत्र लौकिको लौकिकपदार्थानां भगवत्सम्बन्धरहितानां स्वत आसक्त्या भोगः। अलौकिकस्तु प्रभुसम्बन्धी। स तु प्रतिबन्धक एव न भवति। तस्य फलानां मुख्यमध्यमसाधारणानां मध्ये प्रथमफलेऽलौकिकसामर्थ्येन प्रभुस्वरूपानुभवरूपरसभोगे प्रवेशात्। यतः सर्वेन्द्रियैस्तत्सम्बन्धिपदार्थेष्वनुभूयमानेषु तत्र तत्र स्थितो रसात्मा प्रभुरेवानुभूयत इति भावः। एवं भोगं निरूप्य प्रतिबन्धं निरूपयन्ति **प्रतिबन्धोपीति। साधारणः** सर्वसाधारणः, सेवायां लौकिकवैदिककार्यान्तरव्यासक्तिः। भगवत्कृतप्रतिबन्धस्यासुरमात्रविषयत्वेनासाधारणत्वादनिवर्त्यत्वेनावक्तव्यत्वाच्च त्रय एव बाधका उद्वेग लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धा इत्यर्थः। ननु कथमेतेषां सिद्धानां त्याग इत्याशङ्क्ययाहुः **त्रयाणामि**ति। उद्वेगलौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धकानां त्रयाणां साधनं तज्जननहेतुभूतं तस्य परित्यागः कर्तव्यः, हेतूच्छेदे पुरुषव्यापारात्। सिद्धस्य स्वरूपलाभे त्यागानर्हत्वात्। नहि केनापि स्वसामग्रीसम्पादितं सुखदुःखादि किञ्चिदपि स्वयत्नशतेनापि त्यक्तुं शक्यते। ननु साधारणप्रतिबन्धे सेवायां लौकिकवेदिककार्यापत्तिरूपे साधनस्य लोकवेदसिद्धतयाऽशक्यत्यागत्वात् कथं तत्त्याग इत्याशङ्क्य तदुपायमाहुः **तत्राद्य** इति। तत्र साधारणभगवत्कृतप्रतिबन्धयोराद्यः साधारणः **बुद्ध्या** उपायचातुर्येण **त्याज्य** इत्यर्थः। **बुद्धिस्तु** सेवायां प्रतिबन्धत्वेन यदापतति लौकिकं वैदिकं तस्य पूर्वमेव सेवानवसरसमयमवेक्ष्य निर्धारो विधेयो यथा न सेवां प्रतिबध्नाति। तथा च पुत्रविवाहादेस्तथैव लग्नादि विधारणीयम् यथा न सेवाप्रतिबन्धः

---

१ फलेषु प्रथमफले अलौकिकसामर्थ्ये तत्प्रवेशस्य वक्तव्यत्वात् प्रवेशश्चालौकिकसामर्थ्येन प्रभुस्वरूपानुभवस्य रसभोगरूपत्वादिति पाठान्तरम्।
२ लाभेनेति तृतीयान्तः पाठः।

परोपकारादेस्तु धर्मस्य गौणधर्मत्वज्ञानेन त्यागः। कालान्तरे वा करणम्। एवमन्यत्रापि सर्वत्र हरिचरणरतिप्रतिबन्धविभञ्जनी बुद्धिरनुसन्धेया। यद्वा। कदाचिदावश्यकलौकिकवैदिककार्यापाते तत्प्रयत्नासम्भवेन त्यागः कथं शक्यत इत्यत आहुः **बुद्ध्येति**। शरीरादिना तत्कार्यकरणेपि तत्र बुद्धिर्न स्थाप्येत्यर्थः ।।२ ।।

एवं साधारणप्रतिबन्धं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धं निरूपयन्ति।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि।

अकर्तव्यमिति मूले। विवृत्तौ **भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध** इति। **भगवतः** सर्वसमर्थस्यापि स्वतन्त्रेच्छतया यस्मिन्न किञ्चिदपि कृतिविषयः सर्वथा सर्वप्रकारेण प्रार्थनायामपि तदा **गति**र्निस्तारो **न** सर्वथा फलाभाव इत्यर्थः। हीति युक्तोयमर्थः। सर्वमार्गफलदातुः प्रभोः प्रातिकूल्ये केनापि मार्गेण फलासिद्धेः। अत्रायमाशयः। भक्तिमार्गे विशिष्टेच्छायाः कारणत्वान्न सामान्येच्छारूपमूलेच्छया मर्यादया वा फलसिद्धिः प्रतिबन्धो वा। किन्तु स्वयमङ्गीकृत्य यस्मिन् जीवे प्रभुर्यदा यथेच्छति, तदा तत्र तथा करोतीति वस्तुस्थितिः। तथा च भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य निरन्तरं सेवां कुर्वतोपि कदाचिद्दुःसङ्गादिनाऽतिपक्षपातिप्रभुप्रियप्रद्वेषेण तद्द्रोहे प्रभोरतिक्रोधेन प्रार्थनयापि क्षमासम्भावनारहितेन तस्मिन् प्रभुः फलप्रतिबन्धं करोतीति स भगवत्कृतप्रतिबन्धः। तस्मिन् सति सर्वथा सर्वमार्गफलाभाव इत्यर्थः। ननु भगवत्कृतप्रतिबन्धेप्यन्येषां फलदातृणां सेवया फलान्तरं भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः **तदान्यसेवे**ति। यदा ''फलमत उपपत्ते''रिति न्यायेन सर्वत्र फलदातुः प्रभोः प्रातिकूल्यं तदान्येषामपि तदधीनानां फलदातृत्वाभावात् तत्सेवापि फलासाधकत्वाद् व्यर्थेत्यर्थः। ननु सर्वथा फलाभाव आसुरेष्वेवेति कथं दैवस्य भगवत्कृतप्रतिबन्धे तथात्वमित्याहुः तदासुरोयमिति। जीवानां हि सृष्ट्यादावपि ''निबन्धायासुरी मते''ति वाक्येन भगवत्कृतप्रतिबन्धादेवासुरत्वम्। यच्च यदा प्रभुः कर्तुमिच्छति तदैव भवतीति तदा तस्मिन्नेव समयेऽयं यस्मिन्नेवंप्रतिबन्धः स जीव आसुरः सेवादिना दैवत्वेन प्रतीतोपि **आसुर** एवेति **निर्धारो** निश्चय इत्यर्थः। एतेनैतत्प्रतिबन्धस्वरूपविद्भिः सर्वथा दुःसङ्गादिषु सावधानैः स्थेयमित्युक्तं भवति।

ननु तादृशस्य पश्चात्तापे शोकोत्पत्त्या पूर्वं भक्तिमार्गीय इति तदभावार्थं तत्त्वनिर्धारोपायभूतं विवेकरूपं साधनमाहुः **यथा वे**ति।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ।।३ ।।

वाशब्दोनादरे। येनैव प्रकारेण। नात्राग्रहः। एतत्तत्त्वनिर्धारस्य शोकाभावमात्रार्थत्वान्नौपनिषज्ज्ञानमपेक्षितम्, किन्तु यथाकथञ्चित्

साङ्ख्ययोगेनान्येन वा भाषाप्रबन्धादिनोपायेन तत्त्वनिर्धारं विधाय शोकाभावार्थं विवेकः सम्पादनीय इत्यर्थः। विवेकस्तुममैतदेव प्रभुणा कृतं सर्वं ब्रह्मात्मकं कोहं किञ्च साधनं किं फलं को दाता को वा भोक्तेत्यादिरूपः। तमेव च तत्त्वनिर्धारोपायं विवृतौ विशदयन्ति **ज्ञानमार्गेणेति**। ज्ञानमार्गेण ज्ञानसाधनोपायेन **स्थातव्य**मित्यर्थः। किञ्च ज्ञानस्थित्यापि न तन्मार्गीया मुक्तिः, किन्तु शोकाभाव एवेत्याशयेनाहुः **शोकाभावायेति** ।।३ ।।

अतः परं यदर्थमेषां निरूपणं बाधकानां तत्प्रयोजनमाहुः **बाधकानामि**ति।

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम् ।।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ।।४ ।।

बाधकानामुद्वेगभोगप्रतिबन्धानां परित्यागः परितस्त्यागः कर्तव्य इत्यर्थः। भोगस्य बाधकत्वेन त्याज्यत्वमुक्त्वाऽलौकिके तदभावमाहुः **भोगेपीति। भोगेप्येक**मलौकिकभोगरूपं फलप्रविष्टतया तथा तेनैव प्रकारेण, परं प्रतिबन्धयोः परं भगवत्कृतप्रतिबन्धलक्षणमशक्यत्यागत्वेन विहाय तथेत्यर्थः। ननु भोगयोरपि तुल्यतामाशङ्क्य तस्मिन्नलौकिके वैलक्षण्यमाहुः **निष्प्रत्यूहमि**ति। अलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रथमफले भगवत्स्वरूपानन्दानुभवरूपे भोगे क्रियमाणे प्रत्यूहोन्तरायः केनापि कालादिनापि न कर्तुं शक्यत इति निष्प्रत्यूहं स एव सिध्यति। लौकिके तु सर्वथा तदभाव इति महद्वैलक्षण्यमित्यर्थः। अत एवोक्तं प्रभुभिः सक्र्यासनिर्णये ''हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपर'' इति। किञ्च **महानि**ति। स्वरूपतः फलतः साधनतश्च **महान्।** विषयानन्दब्रह्मानन्दापेक्षया भजनानन्दस्य महत्वादित्यर्थः। अत एव फलेष्वपि प्रथमफल एवालौकिकसामर्थ्यरूपे प्रकर्षेण प्रविशते प्रविशतीत्यर्थः। किञ्च **सदे**ति। त्रैकालिकाबाधविषयत्वादित्यर्थः ।।४ ।।

एवमलौकिकभोगे वैलक्षण्यं निरूप्य लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धावेकीकृत्य तद्धर्मनिरूपणपुरःसरं वैलक्षण्यं निरूपयन्ति **सविघ्नोल्पो घातकः स्यादि**ति।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ।

लौकिको हि भोगः **सविघ्नो** विघ्नसहितः, कर्मकालादिभिस्तत्र विघ्नसम्भवात्। **अल्पश्च**। स्वरूपतः फलतः साधनतश्च परिच्छिन्नत्वादित्यर्थः। साधारणप्रतिबन्धो हि **घातकः** सेवाकालोपरोधकतया तद्घातकः। **एतौ** भोगसाधारणप्रतिबन्धौ सविघ्नत्वाल्पत्वघातकत्वादिभिर्धर्मैर्हेतुभूतैस्त्यागमप्यर्हत इत्याशयेनाहुर्विवृतौ **ननु** कथमित्यारभ्य **घातकः स्यादित्यन्तम्**। सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगः प्रतिबन्धश्च घातकत्वाच्च त्याज्य इत्यर्थः।

एवं लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धयोस्त्यागहेतुभूतं धर्ममुक्त्वा भगवत्कृतप्रतिबन्धेत्यागासम्भवेन ज्ञानमार्गस्थित्यानधिकारिणो मन्दमतेः फलचिन्तया शोको भवतीति तदभावाय चिन्ता न कर्तव्येत्याहुः द्वितीय इति।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्।।५।।

द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे सर्वथा सर्वप्रकारेणान्यतोपि फलसम्बन्धाभावाच्चिन्ता फलविषयिणी त्याज्येत्यर्थः। तत्र हेतुमाहुः **संसारनिश्चयादिति**। संसारोऽहन्ताममतात्मा सर्वानर्थमूलं प्रवाहपथफलरूपः, तस्य निश्चयाद्भगवत्कृतप्रतिबन्धे संसार एव न फलान्तरमितिनिश्चयादित्यर्थः।।५।।

प्रतिबन्धविचारमतिविचार्यत्वेन विधायोद्वेगरूपप्रथमप्रतिबन्धेन फलाभावे भगवतो दातृत्वाभावं हेतुत्वेन निरूपयन्ति **नन्वाद्यइति** मूले विवृ**तावाद्यफलेति**।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

आद्येन प्रतिबन्धेन फलाभाव इत्यर्थः। **नन्विति** विरोधोक्तौ। **आद्ये** उद्वेगरूपप्रतिबन्धे भगवतः सर्वसमर्थस्याप्यन्तःकरणैकसम्बन्धितया तद्विक्षेपरूपोद्वेगे क्रियमाणे सेवाया अमानसीत्वेन भगवत्सम्बन्धाभावादनाधिदैविकीत्वे तत्प्रयुक्तः प्रभोः फलदातृत्वाभाव इत्यर्थः। अन्यथा सर्वदोषनिवारकस्य फलदातृत्वभावो न घटेत। एतदेव विवृतौ विशदयन्ति तदा सेवेत्यादि। एवमुद्वेगबाधकमुक्त्वा भोगबाधकं विवृण्वन्ति तृतीय इति। **तृतीये** लौकिकभोगे गृहमेव बाधकमित्यर्थः। अत्रायमाशयः। भोगो हि सर्वथा बाधकः, भगवद्वैमुख्यसम्पादकत्वादिन्द्रियादीनां वैफल्यापादकत्वाच्च। स च यावद्गृहस्थितिः, यत्नेनापि निवर्त्यमानो न निवर्तते। गृहस्य सर्वथा बाधकत्वात्तत्र स्थितावंशतोपि भोगसम्भवाद्गृहपरित्यागः। कृष्णार्थप्रयोगेण तदासक्तिपरित्यागो वा भोगाभावाय विधेय इत्यर्थः। एतदेव च विवृतौ विवृतं **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग** इति। अत एवास्मदाचार्यैर्निबन्धे निरूपितं भगवद्वचोनुवादरूपेण ''गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते। कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचक''इति।

एवं फलत्रयं प्रतिबन्धत्रयं च निरूप्य निजान् प्रत्येतदितवचारमेवाहर्निशं कर्तव्यत्वेन वक्तुमुपसंहरन्ति **अवश्येयमिति**।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः।।६।।

इयं फलत्रयी प्रतिबन्धत्रयी चा**वश्या**, न स्वशक्या। भक्तिमार्गे फलप्रतिबन्धप्राप्तिनिवृत्त्योः केवलभगवदधीनत्वात्। तथापि सदा निरन्तरं **भाव्या**

कर्तव्यत्वेन विचारणीया, विचारे हि भावनायाः साधनत्वात् कदाचित् फलसिद्धिः, प्रतिबन्धतश्च सावधानतया स्थितिसिद्धिरित्यर्थः। ननु फलान्तरं प्रतिबन्धान्तरं वा भक्तिमार्गे किञ्चिद्भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः **सर्वमन्यदिति**। एतत्फलत्रयं प्रतिबन्धत्रयं चापहायान्यत्सर्वं फलप्रतिबन्धादिकल्पनं **मनोभ्रमः** स्वान्तर्भ्रान्तिरित्यर्थः। अत्रेदमुक्तं भवति। भक्तिमार्गे सेवाया उत्तममध्यमसाधारणाधिकारक्रमेण एतत्फलत्रयमेव, न मोक्षादिः। प्रतिबन्धकं चोद्वेगादिकमेव, न पापादिकमिति। ''स्वपादमूलं भजत'' इति वाक्यात्। तथा चैतत्फलविहिताशैरेतत्प्रतिबन्धसावधानैरन्यतो निश्चिन्तैः सर्वैः सेवैव विधेयेति भावः।।६।।

नन्वेतत्फलप्रतिबन्धकादिनिरूपणं तदाश्रितान्प्रति घटते तदीयदेहादेरामत्वात्, तदीयानां तु देहेन्द्रियादेः साक्षात्पुरुषोत्तमसमर्पितत्वेन फलरूपप्रभुसम्बन्धात् प्राप्तफलतया तान्प्रति फलप्रतिबन्धनिरूपणं व्यर्थमित्याशङ्क्य आहुः **तदीयैरपीति।**

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

तदीयैः कृतात्मसमर्पणैरपि तत्फलप्रतिबन्धकादिभावनं कार्यमवश्यकर्तव्यम्। पुष्टिमर्यादायामङ्गीकारेण फलविलम्बाद्भजनं कारयित्वैव फलदानात्। अविलम्बस्तु केवलपुष्टावेवेत्याहुः **पुष्टौ नैव विलम्ब्येदिति**। **पुष्टौ** केवलपुष्टौ मर्यादाऽभावेन साक्षादङ्गीकारान्न विलम्बः। साम्प्रतं तु पुष्टिमर्यादायामेवाधुनिकानामङ्गीकाराद्भजनसिद्धिविलम्बसद्भावेन तावत्पर्यन्तं प्रोषितभर्तृका इव फलप्रतिबन्धभावनं सर्वदा कार्यमित्यर्थः।

एतदेव निमित्तमन्यत्राप्यतिदिशन्ति **गुणक्षोभेपीति**।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः।।७।।

तदीयानां गुणक्षोभोपि विलम्बादेव निमित्ताद् देशान्तरस्थपतिकाया इव भवति। तत्राप्येतदेव फलप्रतिबन्धकादिभावनं साधनत्वेन द्रष्टव्यम्। एतद्विचारेण चित्तस्य प्रभुपरतया गुणक्षोभोपि न भविष्यतीत्यर्थः। ननु गुणक्षोभनिवर्तकानि साधनान्तराणि भविष्यन्तीत्याशङ्क्ययाहुः **मे मतिरिति**। विचारे क्रियमाणेऽस्मन्मतेरत्रैव पर्यवसानान्नान्यत्साधनमित्यर्थः।।७।।

नन्वत्र काचित् कुसृष्टिरुत्पद्यते, तदीयत्वे नियमेन फलसम्भवात्, तद्वैयर्थ्यापत्तिभिया प्रतिबन्धासम्भवाच्च, तदीयत्वे ह्युभयाभावादेवं न निरूपणमुचितमित्याशङ्क्याहुः **कुसृष्टिरिति**।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः।।७।।।

अत्रास्मिन्नर्थे वाशब्दोवधारणार्थः। अत्रैव या **कुसृष्टिरुत्पद्यते** सा सर्वथा दोषाभावाद्धम एवेत्यर्थः। अनुपपत्तिपरिहारस्तु पुरैव प्रभोः स्वतन्त्रेच्छत्वनिरूपणेन कृत इति तत एव विभावनीयमिति दिक्।।७।।।।

इतिश्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जदासानुदासश्रीहरिरायविरचिता सेवाफलविवृतिटिप्पणी सम्पूर्णा।।

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम्।

श्रीवल्लभविरचितटीकासमेतम्।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः।।१।।

यादृशी यत्प्रकारिका 'चेतस्तत्प्रवण'मित्यारभ्य ''कृष्णमेव विचिन्तये''दित्यन्तेनोक्ता। **तत्सिद्धावि**ति। तस्याः सेवायाः मानसीत्वरूपफलावस्थासिद्धौ **फल**मुच्यते फलं निरूप्यत इत्यर्थः। कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाहुः टीकायां **सेवायामि**ति। **फलत्रयमि**ति। फलतावच्छेदकत्रयमित्यर्थः। यथा स्वर्गस्य फलत्वं तदवच्छेदकं चामृतपानादिकं तथा मानससेवायाः फलत्वं तदवच्छेदकं चेदं फलत्रयम्। **सेवायां फलत्रयमित्यनेन** पूर्वार्धार्थउक्तः। उत्तरार्धार्थमाहुः अलौकिकसामर्थ्यमिति। मूलेऽ**लौकिकस्येत्य**लौकिकस्य सामर्थ्यस्य। अलौकिकसामर्थ्यं सर्वाभोग्यसुधा। तस्या **दाने। आद्य** इति। **आद्यो** मनोरथो ''भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य चे''त्यादिभिरुक्तः पूर्वोक्तसुधाभोगरूपः सिध्येत् पूर्णो भवतीत्यर्थः। अनेन शृङ्गाररसस्य पूर्वदालनुभव उक्तः। चकारादलौकिकसामर्थ्येनैव तदुत्तरदलानुभवोपि भवति। स तु परितो गलनरूपवर्णनेनाभिरमणात्मको ज्ञेयः। एतेन दीयमाना सुधा साधनं भुज्यमाना सुधैव तु फलमिति सूचितम्। वेणुगीते ''वर्णनायां मुखे समागच्छन्ती मुखमपि स्वभोगयोग्यं करोती''ति निरूपितम्। 'वर्णयक्त्योभिरेभिर' इत्युत्तरदलानुभवोपि सुधापूरणेनैव निरूपितस्तत्सम्मतिसूचनाय **हिशब्दः**।।१।।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

फलं वा ह्यधिकारो वेत्यस्यार्थमाहुः **सायुज्य**मित्यादिना। मूले **फलं वेति**। सायुज्यस्य सोश्नुतइत्यादिश्रुतौ फलत्वेनैव प्रसिद्ध्या फलपदं सायुज्यवाचकम्। तथा च द्वितीयं फलं सायुज्यमित्यर्थः। तृतीयं फलमाहुः अधिकार इति। एतदर्थमाहुः टीकायां **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति**। अत्र आदिशब्देन श्रीमथुराश्रीवृन्दावनादिकं ग्राह्यम्। मूले **न काल** इति। **अत्र** सेवोपयोगिदेहे कालो न प्रेरकः। यथा लीलासृष्टिस्था आम्रवृक्षादयो न कालप्रेर्याः, किन्तु भगवदिच्छयैव पुष्यन्ति फलन्ति च, एवं जङ्गमा अपि सेवोपयोगिनो देहाः भगवदिच्छयैव

अवयवादिसम्पत्तिं लभन्ते

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ।।२ ।।

उद्वेग इति। श्लोकार्थमाहुः **सेवायामि**ति। **उद्वेग** इति। **मनसोन्यपरता उद्वेगः।** कायस्यान्यपरता **प्रतिबन्धः**। इन्द्रियाणामन्यपरता **भोगः**। इदं त्रयं बाधकम्। तनुवित्तजसेवायां फलजननसामर्थ्यस्य भक्तिरहस्यभजनस्य बाधजनकं विसामग्रीहेतुः प्रतिबन्धकमिति मूलार्थः। ।।२ ।।

अकर्तव्यमित्यारभ्य **विशते सदे**त्यन्तस्यार्थमाहुर्विवरणे **त्रयाणामित्यारभ्य विवेक** इत्यन्तेन। **त्रयाणामि**ति। उद्वेगसाधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगानाम् इत्यर्थः। **साधने**ति। एतत्रयाणामेव बाधकत्वात्। ननु कथमेतत्त्रयस्यैव बाधकत्वं न तु पञ्चानामित्यतो व्यवस्थामाहुः **भोग** इत्यादिना। **लौकिक** इति। अनिवेदितपदार्थानां समर्पणं विना विषयासक्त्योपभोगो लौकिको भोगः। **अलौकिक** इति। निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरलौकिको भोगः। **तत्राद्य** इति। आद्यो लोककृतः साधारणः। **बुद्ध्या** इति। विभावनेत्यर्थः। फलानां मध्ये इति। यस्य फलत्रयमपि भवति तस्य सेवोपयोगिदेहरूपे प्रथमे फले प्रविशति सम्बद्धो भवतीत्यर्थः। एतद्भोगस्यैतत्फलसाधकत्वेन पूर्वं फलसम्बन्धः। तदुत्तरं च दासधर्मत्वेनैतत्करणादुत्तरं सम्बन्धः। इत्थञ्च पूर्वोत्तरमपि फले व्याप्तो भवतीति प्रोपसर्गार्थः। अयं मूले सदेत्यव्ययार्थो ज्ञेयः। निःप्रत्यूहमिति हेतुगर्भम्। यतोयमदृष्टादिकृतविघ्नाभावान्निःप्रत्यूहं सिध्यत्यतो महानित्यर्थः। यद्यपि पाठक्रमेण सेवोपयोगिदेहस्य तृतीयफलत्वम्, तथाप्यनुक्रमानुरोधात् तस्य प्राथम्यमेव सिध्यति किञ्चैतस्याधिकारत्वेन निरूपणादपि तथा। **भगवत्कृत**प्रतिबन्धश्चेदिति। श्रवणकीर्तनादिना हरिश्चेद्धृदये निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहति। तस्या अभ्यासे तस्यां भक्तिरहस्यभजनरूपं सामर्थ्यं सिध्यति। क्रियमाणेपि श्रवणकीर्तनादौ हरिश्चेन्न निविशेत तदाभ्यासो न भवति। तेन जाता तनोरन्यपरता या स भगवत्कृतप्रतिबन्धः तदा भगवत्कृतप्रतिबन्धे अन्यसेवा महापुरुषादिसेवा **व्यर्था** निःफलेत्यर्थः। अपिना भगवत्सेवापि तथेति ज्ञेयम्। क्रियमाणेपि श्रवणादौ चेन्न हरिनिवेशस्तदेत्यर्थः। पूर्वमेव ज्ञानादिमार्गप्रवृत्तौ तु नासुरत्वमिति बोध्यम्। नन्वासुरत्वे श्रवणादौ प्रवृत्तिरेव कथमित्यत आहुः। **जीव** इति। स जीव आसुरस्तस्यान्तःकरणं तु दैवमतः प्रवृत्तिरिति भावः। ननु तर्हि किमासुरेण कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः **तदा ज्ञानमार्गेणेति**। अन्तःकरणस्य दैवत्वे इत्यर्थः। अन्तःकरणस्यासुरत्वे तु संसारनिश्चयाच्छाकाभावं

वक्ष्यन्तीति ज्ञेयम्। शोकाभावसाधककंसोपदिष्टज्ञानमार्गेणेत्यर्थः। **विवेक** इति। आद्यो बुद्ध्या त्याज्यः द्वितीये त्वासुरज्ञानमार्गेण स्थेयमिति द्वयोः प्रतिबन्धयोर्विवेकः इत्यर्थः। **भगवत्कृतश्चे**दित्यारभ्य **विवेक** इत्यन्तेनाकर्तव्यमित्यस्य विवरणं ज्ञेयम्। इत्थञ्चोक्तत्रयाणामेवात्र बाधकत्वम्। अलौकिकभोगस्य प्रथमे प्रवेशान्न बाधकत्वम्। भगवत्कृतप्रतिबन्धेपि सामर्थ्यानुत्पाद एव न तु जातस्य बाधोतस्तस्यापि न बाधकत्वम्। प्रतिबन्धकत्वं तु भवत्येव। प्रतिबन्धो विसामग्रीतद्धेतुः, प्रतिबन्धक इत्यत्र विसामग्रीपदस्य सामग्रीबाधात्यन्ताभावोभयवाचकत्वादिति बोध्यम्।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ।।३ ।।

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथापरम्।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ।।४ ।।

मूले श्लोकद्वययोजना। भगवतः सर्वथा सेवायां सामर्थ्यं **अकर्तव्यं** चेत् तदा **गतिः** फलं **न हि** न भवतीत्यर्थः। ननु तदा तस्य किं साधनं शोकाभावायेत्यत आहुः यथा वेति। येनात्मतत्त्वनिर्धारो भवति तादृशो विवेकः आत्मानात्मविवेकः शोकाभावसाधनं मतमित्यर्थः। ''तस्माद्भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि मानु शोचे''त्यत्र तस्य ज्ञानस्य शोकाभावहेतुत्वकथनान्मतमित्युक्तम्। भोगेप्येकमिति। जात्यभिप्रायेणैकवचनम्। अपरमिति। न परमपरम्, हीनम्, बाधकत्वात्त्याज्यमित्यर्थः। ननु कथं न द्वितीयो बाधकस्तत्राहुः **निःप्रत्यूहमिति**। निर्विघ्नम्। हेतुगर्भमिदम्। यतो निर्विघ्नं यथा भवति तथा सिध्यति, अदृष्टादेर्बाधकत्वाभावात्। अतो महान्। एतादृशो भोगः प्रथमे फले सेवोपयोगिदेहे सदा विशते, पूर्वमुत्तरं च सम्बद्धं भवतीत्यर्थः। पाठक्रमं दृष्ट्वा अलौकिकसामर्थ्ये प्राथम्यं मन्वानस्य भ्रमनिरासाय टीकायां फलानां मध्य इत्युक्तम्। यस्य फलत्रयमपि भवति तस्य यत्प्रथमं फलं सेवोपयोगिदेह इत्यर्थः।।३, ४।।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ।।५ ।।

सविघ्न इत्यत्र टीकायां **सविघ्न**त्वादिति। अत्रापि सविघ्नपदं हेतुगर्भम्। तथाचायमर्थः। घातको लौकिकभोगः, यतः सविघ्नः, अतोल्पः स्यादिति हेतोस्त्याज्य इति। **एतावि**ति। साधारणभगवत्कृतौ बलाद्धेतोः सदा प्रतिबन्धकौ मतौ। मनस इन्द्रियाणां चान्यपरतारूपावुद्वेगभोगौ सामर्थ्यबाधकौ।

नन्वन्यपरतारूपाविभौ तु कारणस्यैव बाधकौ। तनुजसेवैवानभ्यस्ता भवत्यतो बलिष्ठत्वात् प्रतिबन्धनामकावेव जातावित्यर्थः। **ज्ञानस्थित्यभाव** इति। पूर्वोक्तासुरज्ञाने स्थित्यभावे। द्वितीय इतीति। द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे जाते। मूले **संसारनिश्चयादिति**। अत्र संसारपदं देहादिपरम्, तथा च ''विरोचनोक्तदेह एव महय्य'' इत्यादिरूपनिश्चयादित्यर्थः।।५।।

ननु सेवोपयोगिदेहस्य कथमधिकारत्वम्, अधिकारत्वे वा कथं फलत्वमित्यत आहुः **नन्वाद्य** इति।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः।।६।।

नन्विति कोमलामन्त्रणे। **आद्ये** सेवोपयोगिदेहरूपफले सति या भवति फलद्वयदातृता सा सेवोपयोगिदेहरूपाद्यफलाभावे नास्तीत्याद्य फलस्याधिकाररूपतेत्यर्थः। तथा च यस्याद्यफलमेव फलं तं प्रत्याद्यस्य फलत्वमेव। यस्य च पुनरग्रेपि सायुज्यादिफलं तं प्रति आद्यफलस्याधिकारत्वमेवेति भावः। एतेन फलत्रये तारतम्यमपि सूचितमिति बोध्यम्। टीकायां **तदा सेवे**ति। आद्यफलाभावेत्यर्थः। मूले तृतीय इति। लौकिकभोगरूपप्रतिबन्धके सति बाधकं गृहं सेवाप्रतिबन्धकं लौकिकभोगसञ्ज्ञकं भार्यादि त्याज्यमिति शेषः। **अवश्येयमिति**। **इयं** प्रतिबन्धकत्रयी फलत्रयी च सदा निरन्तरं भाव्या विभावनीया। भावनया प्रतिबन्धककृतप्रतिबन्धनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः। **सर्वमिति**। ज्ञानादीनां साधनत्वं तत्साध्यमोक्षस्यैव फलत्वमिति मनोभ्रममात्रम्।।६।।

ननु ''तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे'' इत्यनेनात्मनिवेदिनां प्रतिबन्धकभयाभावात् किं निवर्तनेनेत्यत आहुः **तदीयैरपी**ति।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः।।७।।

भगवदीयैरपि पूर्वोक्तत्रयीद्वयविभावनेन प्रतिबन्धनिवर्तनं कार्यमेव। तत्र हेतुमाहुः पुष्टाविति। तथा सति पुष्टौ मर्यादांशत्यागे भगवान् **विलम्बं** न कुर्यादित्यर्थः। अन्यथा तु यद्यपि निवेदनपदार्थो न नश्यति तथाप्यलौकिकदेहप्राप्तौ विलम्बो भवत्येवेति। ननु गुणैश्चित्तक्षोभे भावनाया असम्भवात् कथं तन्निवृत्तिरित्यत आहुः गुणक्षोभेपीति। सोप्येतेनैव निवर्तिष्यत इति भावः। ननु **गुणक्षोभनिवृत्त्यर्थं** हंसावतारेण एकादशस्कन्धे प्रकारान्तरमुक्तमित्यत आहुः **इति मे मतिरि**ति। मन्मतिसिद्धोयं

प्रकारः। तथा च मर्यादापुष्टिभेदेन व्यवस्थेति भावो द्रष्टव्यः।।७।।

ननु स प्रकारो भगवदुक्तः, अयं च पौरुष इति कथं तुल्यबलत्वमित्यत आहुः **कुसृष्टिरि**ति।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः।।७।।।।

वाशब्दोनादरे। ममापि वाक्पतित्वादत्र मद्वाक्ये पूर्वोक्ता अन्या वा काचित् कुसृष्टिः किमुत्पद्येत ? नोत्पद्येतेत्यर्थः। यदि चेदुत्पद्येत तदा तस्य तादृशं ज्ञानं भ्रम एव। तद्बोधनार्थं नास्मत्प्रवृत्तिः, किन्तु ''सात्विका भगवद्भक्ता'' इत्युक्तानां तादृशामेव बोधनार्थमेवास्मत्प्रवृत्तिरिति भावः।।७।।।।

इतिश्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतसेवाफलविवृतिः समाप्ता।

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम्।

श्रीपुरुषोत्तमकृतसेवाफलविवृतिप्रकाशसमेतम्।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यचरणौ तत्कृपाबलात्।

सेवाफलोक्तिविवृतेर्विवृतिं वितनोत्ययम्।।१।।

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः श्रुतिब्रह्मसूत्रगीताश्रीभागवततात्पर्यगोचरस्वसिद्धान्तस्य तनुवित्तजसेवात्मकस्य साधनस्य भगवत्प्रेमात्मकसेवासिद्धिपर्यन्ततां सङ्क्षेपेण सिद्धान्तमुक्तावल्यां बोधसौकर्यार्थं निरूप्य सेवाफलग्रन्थे तथैव तत्फलं निरूपयितुं प्रतिजानते यादृशीत्यादि।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

यादृशी यत्प्रकारिका **सेवना** सेवा, ण्यासश्रन्थो युजिति युजन्तत्वाद्धारणा विनिगमनेत्यादिवत्स्त्रीत्वम्, **प्रोक्ता** सिद्धान्तमुक्तावल्यां व्युत्पादिता, **तत्सिद्धौ** तस्यास्तत्रोक्तमानसीसेवासाधकतायां सत्यां फलं यत् प्राप्यत्वेन विवक्षितं तदुच्यत इत्यर्थः। अस्य ग्रन्थस्य सङ्क्षिप्तत्वेन दुरूहत्वात् स्वयमेव गृह्णन्तो व्याकुर्वन्ति **सेवायां फलत्रयमित्यादि**। अत्र सेवायामिति सत्यर्थया सप्तम्या साधनसाध्यरूपयोर्द्वयोरपि सेवयोः सत्ता विवक्षितेति बोध्यते। तेन साधनरूपाया आवर्तने तन्निर्वाहः, साध्यरूपायाश्च निरन्तरस्थैर्यं विवक्षितं भवतीति सूच्यते। **फलत्रय**मित्यनेन मूले यादृशीति सेवाविशेषणेन यत्तदोर्नित्यसम्बन्धस्मारणात् फलेपि तादृशमिति प्रकारबोधकं विशेषणं स्मार्यते। तथा च तत्रोत्तममध्यमजघन्यभेदेन बाह्यमानस्योस्त्रैविध्यस्य सिद्धत्वादत्रापि फलत्रयमुच्यत इत्यर्थः। तर्हि किं तत्फलत्रयमित्यपेक्षायां टीकायां तत्स्वरूपं विभजन्ते **अलौकिकसामर्थ्यमि**त्यादि। तत्रालौकिकसामर्थ्यं नाम परप्राप्तिविवरणश्रुत्युक्तभगवत्स्वरूपानुभवे 'प्रदीपवदावेश' इतिसूत्रोक्तरीतिकभगवदावेशजा योग्यता यया रसात्मकस्य भगवतः पूर्णस्वरूपानन्दानुभवः। श्रीदेवकीनन्दना अप्येवमाहुः। श्रीहरिरायास्तु भगवद्विरहानुभवसामर्थ्यमित्याहुः। श्रीकल्याणरायास्तु भगवता सह गानादिसामर्थ्यं मुख्यानामिवेत्याहुः। चचागोपीशास्त्वलौकिकभजनानन्दानुभवे स्वरूपयोग्यतेत्याहुः। एतत्सर्वं भगवतो नानाविधप्रवेशहेतुकत्वाद्भगवदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादुपपन्नम्।

सायुज्यं ''भक्त्या मामभिजानाती''त्युक्तो भगवत्स्वरूपे लयः। चचा अप्येवम्, श्रीदेवकीनन्दनाश्च। श्रीहरिरायास्तु सह युनक्तीति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यं संयोगानुभवसामर्थ्यमित्याहुः। श्रीकल्याणरायास्तु गोपानामिवेति विशेषमाहुः।

सेवोपयोगिदेहोऽक्षरात्मको देहेन्द्रियासुहीनः पुरुषस्त्रीपशुपक्षिवृक्षाद्याकृतिः संस्थानविशेषः। तदेतत् फलत्रयं त्रिविधसेवायां यथायथं बोध्यमित्यर्थः।

ननु 'यथाक्रतु'रिति श्रुतौ तत्क्रतुन्यायस्योक्तत्वात् सक्व्यासनिर्णये ''भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवे''दित्याचार्यैरपि तदङ्गीकाराक्व्यायत एवात्रापि तादृशफलप्राप्तिसिद्धेर्विशेषतस्तत्कथनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तत्र हेतुं वदन्ति मूले अलौकिकस्य दाने हीत्यादिपादत्रयेण।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः।।१।।

फलं वा ह्यधिकारो वा,

अत्र **हि**र्हेतौ। **चो**वधारणे। यतो हेतोर**लौकिकस्य** सम्पद्याविर्भावाधिकरणोक्तरीतिकस्याक्षरात्मकविग्रहस्य **दान** एव **आद्य** आदौ भव उत्तमफलविषये विद्यमानो **मनोरथः** निश्चयशब्दोक्तकामचारात्मकः सिध्येत्। अदाने तु **फलं वा हि निश्चयेन अधिकारो वा** सिध्येदित्यनुषज्यते। तथा च ''लोकवत्तु लीला कैवल्य''मिति न्यायेन भगवता अलौकिकस्य सम्पद्याविर्भावसूत्रोक्तदेहस्य दाने एव तत्सम्बन्धिफललाभान्न तत्क्रतुन्यायमात्रेण पूर्वस्य सिद्धिरित्यतस्तन्निरूपणमित्यर्थः। वाद्वयमनादरे। तेन तत्क्रतुन्यायेन कदाचित् तद्द्वयं भवतीति बोधितम्।

नन्वधिकारस्य कार्यान्तरयोग्यतारूपत्वात् तस्य च साधनदशायामपि सत्त्वात् कथं फलत्वमित्यत आहुः।

न कालोत्रनियामकः।।१।।।इति।

अत्रेत्यधिकारो। तथा च कालनियम्यत्वाभावेनानावृत्त्या नित्यत्वादस्यापि फलत्वं निःप्रत्यूहमित्यर्थः। एतत्त्रये एकं दानहेतुकमन्यद्द्वयमपि भगवदनुग्रहैकहेतुकम्। मर्यादामार्गे निर्गुणाक्षरविद्यया तादृशतत्प्राप्तेः सगुणया सन्मनोमयदहरादिविद्यया च ''जक्षन् क्रीडन् रममाण'' इत्यादिनोक्तैश्वर्यपर्यन्तप्राप्तेरेव श्रावणात् ततोधिकस्य सेवोपयोगिदेहादेस्तत्र केवलया भक्तिरहितमर्यादया वक्तुमशक्यत्वात्। तया तदुपयगमे 'यमेवैष' इत्यादिश्रुते''र्भक्त्याहमेकया ग्राह्य'' इत्यादिस्मृतेश्च विरोधस्य दुष्परिहरत्वाच्च। अतस्तत्त्रयमत्रोच्यत इति भावः। अत्राद्यस्य दानेन सिद्धौ ''रुद्रादीनां वचः श्रुत्वे''त्यादिकृष्णोपनिषन्मन्त्राबृहद्वामनीयकथा ''समल्पो विदितः साध्यः'' इति कुमारिकाः प्रति भगवद्वाक्यं प्रमाणत्वेन बोध्यम्। द्वितीये च 'नैकात्मतां म' इत्यारभ्य ''गतिमण्वीं प्रयुङ्क्तत'' इत्यन्तं कपिलवाक्यम्। तृतीये च ''को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चै''रिति जयविजयौ प्रति सनकादिवाक्यं ज्ञेयम्। तयोः पातस्तु भगवदिच्छात एवेति तत्रैव निबन्धे प्रतिपादितमिति न कश्चित्सन्देहः।।१।।।

ननु भवत्वेवमनुग्रहत्रैविध्यात् फलत्रैविध्यम्, तथापि ''नित्यं हरौ विदधत'' इति वाक्ये कामक्रोधादीनामपि भगवति नित्यं विधाने तन्मयत्वस्योक्तत्वात् तन्मयत्वे च सायुज्यस्यैव युक्तत्वात् सिद्धान्तमुक्तावल्याम''प्युभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती''त्यनेन मानस्या एव फलत्वेनोक्तत्वात् तयापि तन्मयतायाः सिद्धौ तस्यैव युक्तत्वात्कथं तदभावो येन तृतीयं फलमित्यत आहुः।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यादिति।

सेवाया क्रियमाणायामिति शेषः। किं तावतेत्याकाङ्क्षायां तेषां स्वरूपं टीकाया विवृण्वन्ति **सेवायां प्रतिबन्ध इत्यादि।** प्रतिबन्धो नाम विसामग्री तज्जनकः प्रतिबन्धकः। तदत्रोद्वेगादित्रयम्। **तत्रोद्वेगो** नाम उच्चयैर्भयं चलनं वा। ओविजी भय चलनयोः। तदत्र सेवायां क्रियमाणायां दुष्टादिभ्यो मनसो भयं वा पापादिना बुद्धेश्चाञ्चल्यं वा। अत्र द्वितीयमदृष्टजन्यम्। एतदुभयमप्यान्तरमतो द्विविधोप्युद्वेगो बाह्यसेवाफलरूपाया मानसीतत्समानाधिकरणविरुद्धसामग्रीरूपस्तत्प्रतिबन्धकः। **प्रतिबन्धो** नाम तल्लक्षीकृत्य वा तत्प्रतितकूलो वा निग्रहः। प्रतिर्लक्षणे प्रातिकूल्ये वा। बन्ध बन्धने। सोत्र सेवायां रुचौ सत्यामपि शरीरादिसामर्थ्ये सत्यपि सेवाकरणकाले लौकिकवैदिककायिकादिव्यापाररूपो बाह्यसेवासामानाधिकरण्यात् तद्विरुद्धसामग्र्यात्मकस्तत्स्वरूपप्रतिबन्धकः कादाचित्कः। **भोगो नाम** सुखदुःखसाक्षात्कारोभ्यवहाररूपः प्रसिद्धो देहेन्द्रियोभयनिष्ठत्वादुभय विधसेवाविसामग्रीरूपो बलिष्ठः स्वभावतः प्राप्तः। तथा च तेषां सेवाविरुद्धकायिकवाचिकमानसिकसामग्र्युत्पादकत्वे

न मानस्या जघन्यत्वापादनात् तया तन्मयताया असिद्धौ सुखेन तृतीयस्य फलस्य सिद्धिरित्यर्थः।

ननु भवत्वेवं तथापि यदत्र मुख्यं फलं तत्तु दानैकसाध्यमित्युक्तम्। दानं तु पूर्वं ज्ञातुमशक्यम्। तथा सति स्वतःपुरुषार्थत्वेन सेवाकरणे मम किं फलं भविष्यतीति सन्देहः कथं निवर्तेतेत्यत आहुः।

तु बाधकमकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि यथा वा इति।

तुः शमानिरासे। **बाधकं** पूर्वोक्तं त्रयम**कर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेत्** तदा हि निश्चयेन **गतिर्न,** प्राणानां देहादुत्क्रमणं न। मनसो वा भगवद्व्यतिरिक्ते **गतिर्न,** किन्तु ''वायनसि दर्शनाच्छब्दाच्चे''त्यधिकरणोक्तन्यायेन भगवत्येव लयः। ''ते नाविद''न्नित्युक्तरीत्या

१ विसामग्र्युत्पादकत्वात् प्रतिबन्धकत्वमिति पाठः।

भगवदेकतानत्वं हि निश्चयेन। एतेन मुख्यफलभवनविषयकसन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः। **यथा**वेति भिन्नं वाक्यम्। अत्रापि **बाधकं भगवतः अकर्तव्यं चेदित्यन्वेति**। तथा च **यथा** येन प्रकारेण सेवा, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तथा तेन प्रकारेण बाधकं भगवतोकर्तव्यं चेत्तदा, वा फले विकल्पः, सेवा मध्यमा चेन्मध्यमम्, जघन्या चेज्जघन्यं फलमित्येवं सन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः। अथवा। ननु सेवा हि भक्तिमार्गीयं साधनम्। भक्तिमार्गश्चानुग्रहैकलभ्यः पुष्टिप्रवाहमर्यादायां स्थापितः, निबन्धे च ''सर्वथा चेद्धरिकृपा न भविष्यति यस्य हि। तस्य सर्वमशक्यं हि मार्गेस्मिन् सुतरामपी''त्यनेन। एवं सत्यस्मिन् मार्गे प्रतिबन्ध एव कथं येन फलत्रैविध्यमित्यत आहुः **तु बाधकमि**त्यारभ्य यथावेत्यन्तम्। अत्र त्रीणि वाक्यानि, तेषु त्रिष्वपि **बाधकपदं** चेत्पदं चान्वेति। तथा च बाधकं पूर्वोक्तं **भगवतः अकर्तव्यं** चेत्तदा प्रतिबन्धस्याभावाद्गतिर्मध्यमं फलं भवति। **बाधकं सर्वथा** चेत्तदा **न हि** निश्चयेन सेवाफलमेव न। **बाधकं यथा** तथा चेत्तदा वा विकल्पः। तथा चैवं भगवदिच्छातस्त्रैविध्यमित्यर्थः।

तर्हि विकल्पे किं कार्यमित्यत आहुः।

अतत्त्वनिर्धारोऽविवेकः साधनं मतम्।।३।।

बाधकानां परित्याग इति।

अत्रोक्तवाक्यद्वयस्य त्रयस्य वाऽसन्दिग्**धत्वादतत्त्वनिर्धार** इत्यादिकं व्याकुर्वन्ति। **त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य** इति। **त्रयाणां** पूर्वोक्तानां बाधकानां यत्साधनमतत्त्वनिर्धाराविवेकरूपं तस्य **परित्यागः** सर्वथा त्यागः कर्तव्यः। तत्प्रतियोगिभूततत्त्वनिर्धारविवेकयोरभ्यासेन तयोः प्रागभावानिवृत्तिः सम्पादनीया, ध्वंसो वा। तथा च नवीनतदुत्पादकसाधनत्यागे यथा भोजनपरित्यागे पूर्वाजीर्णस्य निवृत्तिः भाविनश्चानुत्पत्तिस्तथा तत्त्वनिर्धारे जाते बुद्धिदोषरूपस्योद्वेगस्य निवृत्या विवेके च जाते प्रतिबन्धभोगयोर्निवृत्या तयोर्निःशेषनाशः सम्पादनीय इत्यर्थः।

ननु बाधकत्यागे कर्तव्ये भोगत्याग आगतः, तथाकृते शरीरस्थितेर्बलादेश्चासम्भवात् सेवाया एवासिद्धिः, प्रतिबन्धस्य चादृष्टजन्यत्वात् तत्त्यागस्याशक्यत्वमिति सेवासिद्धिरेव दुर्घटेत्याशमायां तदर्थं विभागमाहुः **भोगेपीत्या**दि।

भोगेप्येकं तथा परम्।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा।।४।।

अपि समुच्चये। **भोगे,** अपि शब्दात् प्रतिबन्धे, एकं परित्याज्यमिति शेषः। **तथे**ति वैधर्म्ये दृष्टान्तः। यथा भोगप्रतिबन्धयोरेकं परित्याज्यं तथा परं द्वितीयं निःप्रत्यूहं विघ्नशून्यम्। भोगस्य निःप्रत्यूहत्वे हेतुर्महान् **भोगः** प्रथमे विशत इति। प्रतिबन्धस्य तथात्वे हेतुः सदेति। तदेतत् सर्वं मन्दादेर्दुष्करं दुर्ज्ञेयं चेति तदर्थं

गृह्णन्तो व्याकुर्वन्तः प्रतिलोमक्रममादाय प्रथमतो भोगं विभजन्ते भोग इत्यादि। भोग उक्तरूपो द्विप्रकारकः। तयोर्मध्ये लोकासक्तिजन्मा सार्वदिकत्वेन बलवद्बाधकत्वादवश्यं त्यक्तव्य एवेत्यर्थः। ततो न्यूनं प्रतिबन्धं विभजन्ते **प्रतिबन्धोपीत्या**दि। तस्य कादाचित्कत्वेन स्वल्पत्वात् पूर्वं तत्त्यागप्रकारमाहुः तत्रेत्यादि। तयोः प्रतिबन्धयोर्मध्ये **आद्यः साधारणः बुद्ध्या** उपायचातुर्येण **त्याज्यः।** यद्यपि तत्त्वनिर्धारविवेकौ पूर्वं प्रतिबन्धविघातकत्वेन सूचितौ तथापि न तावन्मात्रेण निवृतिः, किन्तु बुद्धिरपि तत्सहकारित्वेनापेक्षिता। अतस्तया त्याज्य इत्यर्थः। ननु भवत्वेवं तथाप्यलौकिकभोगात्यागे किं बीजमित्याकाङ्क्षायां तत्र बीजमाहुः **अलौकिक** इत्यादि। तुः शमानिरासे। अलौकिको भगवद्दत्तप्रसादत्वेन क्रियमाणो भोगः **फलानां मध्ये प्रथमे** आद्यमनोरथात्मके **प्रवेशं प्राप्नोत्यतो** निःप्रत्यूहत्वान्न त्याज्य इत्यर्थः। अयमेव हेतुर्मूले महानिति पदेनोक्तो बोध्यः। द्वितीयप्रतिबन्धस्य निःप्रत्यूहत्वे यो हेतुः **सदा** पदेनोक्तस्तं व्युत्पादयन्ति **भगवत्कृत** इत्यादि। सेवायां स्वस्य रुचेः सामग्रीसम्पत्तेश्च सत्त्वेपि यदा पुनः पुनस्तद्विघटनेन तन्निर्वाहाभावः सेवायामरुच्यादिर्वा स भगवत्कृतप्रतिबन्धः। तत्रैव हि स्वस्यान्येषां च ''दैवमत्र विघातक''मिति बुद्धिरुदेति। तादृशः स चेद्भवेत् तदा भगवान् फलं पूर्वोक्तं त्रिविधमपि सेवाफलं न दास्यतीति मन्तव्यम्। तेन सेवाप्रतिबन्धवता युक्तिभिर्विचारणीयम्। तदान्येषां गुर्वादीनां सेवां चेत्तदर्थं कुर्यात्तदा सापि व्यर्था। एतत्फलरूपार्थविरहितेति मन्तव्यमिति पूर्वेण सम्बन्धः। तदायं जीव ''एवं पञ्चविधं लिङ्ग''मिति चतुर्थस्कन्धवाक्योक्तश्चेतनायुक्तसङ्घात आसुर इति निर्धारः कार्य इति प्रायपाठादायाति। तदा ज्ञानमार्गेण स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मत्वभावनपरेणास्थूलादिसदाद्युपासनपरेण वा स्थातव्यं शोकाभावाय। आत्मज्ञानस्य शोकनाशकत्वश्रावणात्तथा स्थितौ तस्मिन् सङ्घाते निवृत्ते एतस्याक्षरसायुज्यं वा तत्र स्थितिर्वा भवतीति **विवेकः** सेवाफलात् पृथक्करणमित्यर्थः।

अत्रैतद्ग्रन्थदर्शनेन ममेदं प्रतिभाति। आसुरजीवा हि पुष्टिप्रवाहमर्यादायां ''जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे प्रवृत्तिं चेति वर्णिता'' इत्युक्तलक्षणका अज्ञदुर्ज्ञभेदेन द्विविधा निरूपिताः। ते तु नोपदेशार्हाः। ''सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः। भवान्तसम्भवा दैवात् तेषामर्थे निरूप्यत'' इति प्रतिज्ञावाक्येन तथा निश्चयात्। अतःपरं ''प्रवाहेपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते। सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यत'' इत्युक्तोवशिष्यते। यथा अलीखानादिः। अतस्तादृशं तद्देश्यं प्रति वायमुपदेश इति।।४।।

एवमलौकिकभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धयोस्त्यागानर्हत्वे बीजं व्याख्याय साधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगयोस्त्याज्यत्वे बीजं वक्तुमवतारयन्ति।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्।।५।।

साधारण इत्यादि। **कथमिति** हेतुरूपप्रकारबोधकम्। तथा चैतयोस्त्यक्तव्यताप्रयोजकः प्रकारः क इत्यर्थः। अन्यथा त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति पूर्व ग्रन्थविरोध आपद्येतेति। व्याकुर्वन्ति **सविघ्नत्वा**दित्यादि। कालादिकृतविघ्नसाहित्यात् स्वरूपतः साधनतः फलतश्चाल्पत्वात् तथेत्यर्थः। एवं भोगे त्याज्यत्वबीजद्वये व्याख्याते शिष्टो घातकत्वरूपो हेतुः साधारणप्रतिबन्धनिष्ठ इत्यर्थादेव बोधितम्।

ननु प्रतिबन्धकत्यागप्रकारस्य पूर्वमुक्तत्वात्पुनस्तत्कथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः **बलादेतावि**ति। व्याकुर्वन्ति **एता**वित्यादि। यत **एतौ** लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ **सदा** क्षणे क्षणे प्रतिबन्धकावतो बुद्ध्या उपायचातुर्येण भलाद् हठात् त्याज्यौ। यथाधिकं भुक्तं चेन्ममेदानीन्तना सेवा गता, मया गानाद्यासक्त्या जागरः कृतश्चेदिदानीं निद्रायाति, तस्मादेवं न विधेयमित्येवं बुद्ध्योपायचातुर्येण सर्वथा त्यक्तव्यावित्येतदर्थं पुनः कथनमित्यर्थः। **द्वितीये सर्वथेति** व्याकुर्वन्ति। द्वितीय इत्यादि। पूर्वं भोगप्रतिबन्धयोरुभयोरुक्तत्वात् कोत्र द्वितीय इति शमानिरासायैतदुक्तम्। ननु भगवत्कृते प्रतिबन्धे यादृशी स्थितिरपेक्षिता सा तु पूर्वं विवृतैवेति पुनस्तदुक्तेः किं प्रयोजनमत आहुः **ज्ञानेत्या**दि। तथा च पूर्वोक्तादपि यो हीनः सिद्धान्तमुक्तावल्यां ''भक्त्यभावे त्वि''ति कारिकयोक्तस्तस्य संसारेत्यन्ताभिनिवेशनिवृत्त्यर्थमिदमित्यर्थः।।५।।

ननु पूर्वमुद्वेगादित्रयं ससाधनं त्याज्यत्वेनोक्त्वाग्रे तत् त्याज्यत्वात्याज्यत्वविभागं च कृत्वा पश्चाद्द्वयोरेवावश्यं त्याज्यत्वं यन्निरूपितं न तूद्वेगस्यापि, तत् कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः।

न त्वाद्ये दातृता नास्तीति,

अत्र प्राञ्चः पाठं द्विधाङ्गीकुर्वन्ति केचिन्नन्विति। केचिच्च न त्वेति। तत्रापि नु इति भिन्नं पदं निश्चयार्थकमिति मम प्रतिभाति। **आद्ये** उद्वेगे। तुः शमानिरासे। नु निश्चयेन वा न, चिन्ता फलसाधनविषयिणी न त्याज्या। तत्र हेतुः। **दातृता नास्तीति। अदातृता नास्तीति** वा। तदेतद्व्याकुर्वन्ति। **आद्यफले**त्यादि। आद्यं यत् फलमलौकिकसामर्थ्यरूपं, तस्याभावे अप्राप्तौ, भगवतो दातृत्वं नास्ति, तदा तस्मिन् दानसमये सेवा अनाधिदैविकी।

उद्वेगो हि मानसो, मानस्या एव विरुद्धसामग्रीजनकः, सा दानसमये 'चेतस्तत्प्रवणं' 'ता नाविदन्' इतिवद्भगवति लीनं न करोति, तेन स सेवा अनाधिदैविकीत्युक्तं भवति। अत उद्वेगे तन्निवृत्त्यर्था चिन्ता भगवद्भावनरूपा न त्याज्या,

---

१ त्यागहेतुरूपेति पाठः।

किन्तु सदा कर्तव्यैव। द्वितीयपक्षे उद्वेगेन कृत्वा फलाभावे मुख्यफलाप्राप्तौ भगवतोऽदातृत्वं नास्ति किन्तु तदोद्वेगदशायां सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवति। अतस्तस्या आधिदैविकीत्वसम्पादनायोद्वेगनिवृत्त्यर्था चिन्ता न त्याज्या किन्तु कार्यैव। तथा चोद्वेगस्य मुख्यफलातिरिक्तफलाप्रतिबन्धकत्वाद् मुख्यफलस्य केवलं दानमात्रसाध्यत्वाद् दित्सायाश्च ''अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुक्तं'' इतिवाक्येन ''कर्हिचित् स्म न भक्तियोग''मिति वाक्येन च ज्ञातुमशक्यत्वान्नोक्तमित्यर्थः। अत्रानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति कथनेन सेवाया अनाधिदैविकीत्व सम्पादकत्वरूपमुद्वेगत्याज्यताबीजमप्युक्तं ज्ञेयम्।

ननु तत्त्वनिर्धारविवेकाभ्यां प्रतिबन्धत्यागे यतमानस्यापि त्रयाणां त्याज्यबीजं जानतोपि यदा न प्रतिबन्धनिवृत्तिः तदानेन किं कार्यमित्यत आहुः।

तृतीये बाधकं गृहमिति।

तदेतद्विवृण्वन्ति **भोगाभाव** इत्यादि। उद्विग्नः साधारणप्रतिबद्धोपि निरूपधि यथाकथञ्चन भक्तिमान् सेवेत तदापि तृतीयं फलं भक्तिमत्त्वाद्भवति तस्मिन्नपि भोगो लौकिकः प्रतिबन्धं करोति। अतस्तृतीये भोगरूपे प्रतिबन्धेऽशक्यत्यागे सति भगवता गृहत्याग एवानेन प्रकारेण बोध्यत इत्यनुसन्धाय बाधकभूतं गृहं त्याज्यम्। यतो **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः।** तथा च तदानीमयमेवोपायोनेतर इत्यर्थः। अयं त्यागो न भक्तिमार्गीयसक्क्यासरूपः, अधिकाराभावात्, किन्तु ''तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशन''मित्यादि भक्तिवर्धिन्युक्तभक्तिसाधनसम्पादनार्थ इति ज्ञातव्यम्। एवमत्र यावान् कठिनांशः सोत्र स्वयं व्याख्यातः।

अतःपरं य एवं गृहत्यागमपि न कर्तुं शक्नुयात् तदर्थं मूले उपायमुपदिशन्ति।

अवश्येयं सदा भाव्येत्यादि।

इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी च **अवश्या**, यथायथं भगवद नुग्रहैकलभ्यत्वाद्भगवद्विचारमात्रसाध्यत्वाच्च **अवश्या**, न स्वकृतसाधनाद्यायत्ता। अतः **सदा भाव्या** प्रतिबन्धोपस्थितावश्यत्वेनैव स्वदैन्याय तदा तदा विचारणीया। अत्र सदापदेनेदमेव बोध्यते, न तु कालनैरन्तर्यम्। ''निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वदे''त्यादीनां विरोधापत्तेः।

सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।।६ ।।

फलस्य स्वकृतसाधनायत्तत्वभावनं प्रतिबन्धस्य स्वकृतसाधनान्तरनाश्यत्वभावनं च मनोभ्रमश्चित्तबाहिर्मुख्यसम्पादकं चाञ्चल्यमात्रम्, भगवदिच्छां विना कथमपि केनापि किञ्चिदपि कर्तुमशक्यत्वात्। ''एष उ एव साधु कर्म कारयती''त्यादिश्रुत्या तथा बोधनात्। ''अनन्याश्चिन्तयन्तो मा''मिति वाक्ये तादृशां योगक्षेमवहनस्य स्वकर्तव्यताया उक्तत्वादत्र प्रतिबन्धनिवृत्त्यादियोगक्षेमस्यापि भगवतैव कर्तव्यत्वादेकादशस्य विंशेध्याये ''जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु। वेद

दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेप्यनीश्वरः। ततो भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः। जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हय''न्नित्यन्तेन तथा करणस्याज्ञापनाच्च ।।६ ।।

ननु यद्येवं तदा भावनस्यापि किं प्रयोजनम्। नहि जीवकृतया भावनया सत्यसमल्पो भगवान् स्वविचारितादन्यथा किमपि करोति। तथा सति किं भावनोपदेशेनेत्यत आहुः **तदीयैरपीत्यादि।**

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

एते हि **तदीयाः** सर्वसमर्पणात् सर्वप्रकारेण भगवत एव भावनाच्च भगवदीयाः, तैरपि तदुक्तं भावनं कार्यम्। तत्र हेतुः। **पुष्टौ** अनुग्रहविषये, भगवान्नैव विलम्बयेत्। एतत्कृत्या विलम्बं न कारयेत्, न कुर्याद्वा। रामो राज्यमचीकरदितिवत् स्वार्थे णिच्। तथा च पुष्टिमर्यादायां स्वयमेव साधनानामुपदेशादस्मात् साधनद्वारा वोद्दिधीर्षति, तानि विना वा न वेति न ज्ञातुं शक्यते, अतो विलम्बाभावायायमुपदेश इत्यर्थः।

ननु ''सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे। चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यत'' इत्येकादशस्कन्धे भगवद्वाक्यात् चित्तजा गुणाः कालकर्मस्वभाववशात् क्षुभ्यमाणाः प्रतिबध्नन्त्येव तदा किं कार्यमित्यत आहुः **गुणक्षोभेपीत्यादि।**

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ।।७ ।।

गुणक्षोभोपि परम्परया भगवदिच्छाधीन इति तत्रापि एतदेव भगवत्कृतं विलम्बनमेव कारणत्वेन द्रष्टव्यम्। **इति मे मति**ः इदमस्माभिरेवोच्यते। अत्र नान्यस्य सम्मतिरित्यर्थः ।।७ ।।

तत्र हेतुः **कुसृष्टिरित्यादि।**

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ।।७ ।। ।।

शास्त्रे तदर्थं साधनान्तरोपदेशदर्शनाद्विरुद्धयुक्तिसृष्टिरत्र **वा** विकल्पेनोत्पद्येत, परं स विकल्पोधिकारभेदानवधानाद् **वै** निश्चयेन **भ्रमः**। भगवता ''दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'' इति गुणमूलनिवृत्तये स्वप्रपत्तिमात्रस्यैव साधनस्योक्तत्वात्। साधनान्तरकरणे च निःशेषतन्निवृत्त्यभावात्। भगवत्कृतविलम्बभावने तु भगवानेव शरणमिति बुद्ध्युत्पत्तेः। अतोस्माभिरिदं भगवदभिप्रेतमेवोच्यत इति तथेत्यर्थः ।।७ ।। ।।

इति तत्प्रेरणप्राप्तबुद्धिस्तु पुरुषोत्तमः।
सेवाफलोक्तिविवृतेर्विवृतिं चैवमुज्जगौ ।।१ ।।

इतिश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीपीताम्बरात्मजस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य कृतौ सेवाफलविवृतिप्रकाशः सम्पूर्णः ।।

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम्।

विवृतिविवरणसमेतम्।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् विट्ठलेशान् निजान् गुरून्।

सेवाफलस्य विवृतिव्याख्यानं वितनोम्यहम्।।१।।

अथ दैवोद्धारप्रयत्नात्मानः श्रीमदाचार्या निजानां सुखेन सिद्धान्तमुक्तावल्युक्तसेवायाः सिद्धये तत्फलप्रतिबन्धसाधनानि निरूपयन्तः प्रतिज्ञां कुर्वन्ति **यादृशी सेवनेति।** एतद्ग्रन्थस्यातिसङ्क्षिप्तत्वेन दुर्बोध्यत्वात् स्वयमेव विवृतिं रचयन्तः सेवाया निजग्रन्थेषु फलत्वाङ्गीकारेण तत्फलेष्वन्येषूच्यमानेषु सेवायाः साधनतामाशङ्क्यय साधनताभ्रमं वारयन्तः फलनामान्याहुः **सेवायामि**ति।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः।।१।।

सेवायां फलत्रयम्, अलौकिकसामर्थ्यम्, सायुज्यम्, सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु। सर्वत्र साधनान्ते फलम्। फले लब्धे साधनत्यागः। अत्र सेवासाधकसेवायां क्रियमाणायामित्युक्ता न तद्भ्रमस्यावकाशः। यादृशी सिद्धान्तमुक्तावल्यां कथिता मानसी सेवा, तत्तिसद्धौ मानसीत्वे सिद्धे, तस्यां यत्फलत्रयमलौकिकादि, तदुच्यते। आद्यफलस्यालौकिकसामर्थ्यस्य प्रभुणा दाने कृते, चकारात्तद्देहेन्द्रियादिषु स्वरूपे स्थापिते, आदौ उत्तमफले जातो मनोरथः सिध्येत्, तस्यादाने फलं सायुज्यं वा सिध्येत्, अधिकारः सेवोपयोगिदेहो वा सिध्येदित्यग्रिमेणान्वयः। **हि** युक्तोयमर्थः। अत्र द्वौ वाशब्दौ पूर्वफलतुल्यत्वबोधकौ।।१।।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्।।२।।

सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्, उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा। फलमिति। आद्यफलमनियतम्, परमानुग्रहैकलभ्यत्वात्। एवं चाद्यस्य दानैकहेतुत्वम्। फलद्वयस्य साधारणानुग्रहहेतुत्वम्। नन्वधिकारस्य सेवापूर्वकाले स्थितत्वात्कथं फलत्वमित्यत आहुः **न काल** इति। अस्मिन्नधिकारे सत्ययुगादिरूपः कालो नियामको न। अतः

कालानियम्यत्वात्फलताधिकारस्य। एवं सोपपत्तिकं फलत्रयमुक्त्वा प्रतिबन्धकत्रयमाहुः मूले **उद्वेग** इति, विवृतौ **सेवायामिति।** उदधिको वेगः भयम्, अपराधादिना मनश्चाञ्चल्यं वा पापादिना। स च सेवाऽरुचिसम्पादनेन बाधकः। प्रतिबन्धश्च सेवायां रुचौ सत्यामपि तत्समये लौकिकवैदिककायिकादिकार्यासक्तिरूपः। स च तत्समयरोधनेन बाधकः। भोगश्च शरीरवृत्त्यनुसारेणाभ्यवहारशयनादिरूपः। सोपि पूर्ववद्बाधकः।।२।।

ननु फलानामनुग्रहलभ्यतयानुग्रहस्य च भगवदिच्छाधीनत्वात्सेवायां क्रियमाणायां मम फलं भविष्यति न वेति सन्देहः कथमपेयादतस्तन्निवारणाय तु बाधकमित्यारभ्य यथा वेत्यन्तमाहुः।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि।

यथा वाऽतत्त्वनिर्धारोऽविवेकः साधनं मतम्।।३।।

बाधकानां परित्यागः,

त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः। भगवतो बाधकत्रयं न करणीयं चेत् तर्हि मनस अन्यत्र गमनं न, फलं तु **यथा वा।** येन प्रकारेण सेवा तथा तेन प्रकारेण फलमिति सन्देहाभावः। यद्वा भक्तिमार्गे भगवदनुग्रहलभ्यः। तस्मिन् कथं प्रतिबन्धकत्रयमित्यतस्तु बाधकमित्यादि यथा वेत्यन्तमाहुः। वाक्यत्रयमत्र। बाधकं पूर्वोक्तं भगवतोकर्तव्यं चेत्तदा गतिर्नाम सेवायां सायुज्यम्।।१।। बाधकं चेत् सर्वथा तदा न हि फलाभाव इत्यर्थः।।२।। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्यथा बाधकं तथा चेत्तदा वा नाम फले विकल्पः।।३।। तथा चैवं भगवदिच्छयानुग्रहस्य त्रैविध्यात् फले त्रैविध्यम्। तथा च यस्य जीवस्य यादृशोधिकारः स तादृशीं सेवा करिष्यति, तस्य स्वाधिकारयोग्यं फलं च भविष्यतीति सन्देहाभावः। एवं फलविकल्पे प्राप्ते किं कार्यमत आहुः अतत्त्वनिर्धार इत्यारभ्य बाधकानां परित्याग इत्यन्तम्। विवृतौ त्रयाणामिति। त्रयाणामुद्वेगादीनां साधनस्यातत्त्वनिर्धारस्याविवेकस्य च तत्त्वनिर्धारस्य विवेकयोरभ्यासेन सर्वतस्त्यागः कर्तव्यः। ननु तत्त्वनिर्धारस्याविवेकस्य च तत्त्वनिर्धारस्य विवेकयोरभ्यासेन सर्वतस्त्यागः कर्तव्यः। ननु तत्त्वनिर्धारविवेकौ किंरूपौ ? तथा हि, तस्य लोकवेदप्रसिद्धस्य पुरुषोत्तमस्य भावस्तत्त्वम्, तस्य निर्धरणं निर्धारः। ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'', ''स हैतावानास'' ''अखण्डं कृष्णव''दित्यादिभिः सर्वत्र भगवद्भावनम्। विवेकस्तु ''हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती''ति सर्वत्र भगवत्कृतिः। ननु बाधकानां मध्ये भोगस्यापि त्यागे जाते तं विना शरीरस्थितेरसम्भवात् सेवाया असिद्धिमाशङ्क्य त्यागे व्यवस्थामाहुः **भोगेपीति।**

भोगेप्येकं तथा परम्।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा।।४।।

भोगो हि द्विविधः, लौकिकोऽलौकिकश्च। तत्र लौकिकस्त्याज्य एव। प्रतिबन्धोपि द्विविधः, साधारणो भगवत्कृतश्चेति। तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्यः। अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति। भगवत्कृतश्चेत्प्रतिबन्धस्तदा भगवान्फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्। तदान्यसेवापि व्यर्था। तदासुरोयं जीव इति निर्धारः। तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति विवेकः। भोगप्रतिबन्धयोरेकैकं परित्याज्यम्। अपिशब्देन प्रतिबन्धस्य ग्रहणम्। तथा परं द्वितीयं निष्प्रत्यूहं विघ्नरहितम्, तत्र हेतुः, महान्भोगः। एवं प्रतिबन्धरूपं वस्त्वपि निष्प्रत्यूहम्। तत्र हेतुः, सदेति। एतत्सर्वं मनसि कृत्वा विवृतौ तात्पर्यमाहुः सूचिकटाहन्यायेन। पूर्वं भोगद्वैविध्यमाहुः भोग इति। लौकिकालौकिकभेदेन भोगो द्विधा। तत्र अलौकिको भोगो लौकिकासक्तिरूपत्वात् सेवासमयरोधकत्वात्त्याज्यः। एवं लौकिकभोगं निरूप्य हेतुसहितमलौकिकभोगं निरूपयन्ति तथेति। विवृतौ **अलौकिकेति। अलौकिको** यो भोगः स तु फलत्रये यदाद्यमलौकिकसामर्थ्यं तस्मिन् सति भगवद्दत्तप्रसादेन भवतीति तत्प्रवेश उक्तः। एवं च तस्यात्याज्यत्वे बीजमुक्तम्। एवं द्विप्रकारकं भोगं निरूप्य द्वितीयप्रतिबन्धस्य निर्विघ्नत्वे यो हेतुर्मूले सदा पदेनोक्तस्तं विवृतौ भगवत्कृत इत्यादिना विशदयन्ति। सेवायां प्रवृत्तस्य यदा दुःसङ्गादिना भगवदीयद्रोहे कृते प्रभुः स्वयं प्रतिबन्धं करोति, तदा सेवायामरुचिर्भवति, तदा सर्वथा फलाभावः, तदा तदुपायार्थमन्यसेवनं न कर्तव्यम्, व्यर्थत्वात्, तदायं जीव आसुर एव। दैवजीवे सर्वथा फलाभावाभावात्। तदा एतादृशे प्रतिबन्धे चिन्तानिवृत्त्यै आदिसृष्टौ भगवान् जीवं यथा विचारितवांस्तथैव निजेच्छया करिष्यतीत्यादिरूपेण ज्ञानमार्गेण स्थातव्यम्। एवमलौकिकभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धयोरत्याज्यतामुक्त्वा साधारणप्रतिबन्ध लौकिकभोगयोस्त्यक्तव्यत्वे विवृतौ बीजमवतारयन्ति **साधारणेति। साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकाङ्क्षायामाह सविघ्नोल्पो घातकः** स्यादिति। ननु लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ केन हेतुना केन प्रकारेण च त्यक्तव्याविति व्याकुर्वन्ति सविघ्नइति। लौकिको भोगः सविघ्नत्वाल्पत्वाभ्यां हेतुभ्यां बलाद्धठात्त्याज्यः। घातकत्वेन हेतुना साधारणः प्रतिबन्धस्त्याज्यः। नन्वेतत्त्यागप्रकारस्तत्त्व निर्धारविवेकरूपः पूर्वमुक्त इति पुनः किमर्थमुच्यते ? सत्यम्। पूर्वं यदुक्तः स तु नवीनतदुत्यादकसाधनत्यागरूपः। अयं तूत्पन्नयोस्त्यागप्रकारोत उच्यते।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ।

सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्यः। **एतौ** सदा प्रतिबन्धकौ। बलादिति। यत एतौ **सदा** क्षणेक्षणे सेवासमयरोधकत्वेन **मतौ** ज्ञातौ। अतो बलाद्धठाद्बुद्ध्योपायचातुर्येण त्याज्यौ। तत्स्वरूपं श्रीपुरुषोत्तमा आहुः। तथाहि, ''यथाधिकं भुक्तं चेन्ममेदानींतना सेवा गता, मया गानाद्यासक्त्या जागरः कृतश्चेदिदानीं निद्रायाति, तस्मादेवं न विधेय''मिति। प्रकृतमनुसरामः। अतःपरं ज्ञानस्थित्ययोग्यानां भगवत्कृतप्रतिबन्धे स्थितिप्रकारमाहुः।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्याऽसंसारनिश्चयात्।।५।।

द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः। ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाह द्वितीय इति। द्वितीय इति भगवत्कृतप्रतिबन्धे ज्ञानस्थितावपि पुष्टिमार्गीयफलविषयिणी चिन्ता सर्वथाऽत्याज्या। कुतः ?असंसारनिश्चयात्। अत्रायमर्थः। ''अस्मिन्पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यत'' इति वाक्येन अलीखानादिरिव जन्मान्तरे उद्धरिष्यति।

एवं भोगप्रतिबन्धौ त्याज्यत्वेन विचार्य उद्वेगत्यागे बीजं वदन्ति **नन्विति।**

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति तदा सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवति। अत्र पाठद्वयम्। **नन्विति, न त्विति**। नु निश्चयेन, आद्ये उद्वेगे सति फलविषयिणी चिन्ता न त्याज्या। तत्र हेतुमाहुः **भगवतो दातृता नास्ति।** एतदेव विवृतावाद्येत्यादिनोक्तम्। एवं च सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकत्वादुद्वेगोपि त्याज्यः, यदिच्छाकृतो यस्तूद्वेगः, स एवैनं निवारयिष्यतीतिविचारेण त्याज्यः। एवं जानतोपि यथाकथञ्चित्सेवायां प्रवृत्तस्य यदा लौकिकभोगः प्रतिबन्धं करोति तदा कर्तव्यमाहुः **तृतीय** इति। विवृतौ तदपि भोगेत्यादिना व्याचक्षते। **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः**। तृतीये भोगरूपे प्रतिबन्धे गृहमेव त्यजेत्, कृष्णार्थमेव गृहं प्रयुञ्जीत। तथा कृते भोगस्यालौकिकत्वं सिध्येदिति लौकिकभोगस्त्यक्त एव।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः।।६।।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः।।७।।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः।

एवं कठिनांशं स्वयं व्याकृत्य गृहत्यागेऽसमर्थानां यत्कर्तव्यं तदाहुः अवश्येति। इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी चावश्या, अतो बाधकानामुपस्थितौ स्वदैन्यसिद्धये

सदा विचारणीया। अन्यत्सर्वमिदं साध्वसाधु वा मत्कृतमित्यादिरूपं मनोभ्रमः चित्तबाहिर्मुख्यमेवेति ज्ञेयम्। ननु भगवान् सत्यप्रतिज्ञः, यथा पूर्वं विचारितवांस्तथैव करिष्यतीति किमेतेनेत्याशङ्क्ययाहुः तदीयैरिति। एते हि समर्पणेन तदीयाः। स्वकीयानां सर्वं चिन्तनं भगवत एव करणीयम्। अतो भगवदीयैरपि तदुक्तभावनं कार्यम्। एतेनानन्यशरणान् ज्ञात्वा पुष्टावनुग्रहे भगवान् बाधकेषु सत्स्वपि नैव विलम्बयेत्, फलं दद्यादेव। ननु चित्तजानां गुणानां क्षोभे विचारे क्रियमाणेपि प्रतिबन्धो भवेदेव तदा यत्कार्यं तदाहुः गुणेति। सत्त्वादिगुणेषु क्षुभ्यमाणेष्वपि भगवत्कृतः प्रतिबन्ध एव कारणमिति द्रष्टव्यम्। तदापि भगवदिच्छाविचारणमेवोपायो नान्यः। मम मतेरत्रैव पर्यवसानम्। सर्वमन्यन्मनोभ्रम इति पूर्वमुक्तत्वात्। अत्रास्मिन्विषये काचित्कुसृष्टिः कुबुद्धियुक्तिः भगवत्कृतप्रतिबन्धस्य निवारणे अन्योप्युपायोस्त्येतद्रूपा मनसि जायेत तदा सापि भ्रमरूपैवेतिज्ञेयम्। एतेनानन्यभावनपूर्वकं भगवदीयैः स्थेयम्।।६, ७।।

इतिश्रीसेवाफलविवृतिव्याख्यानं समाप्तम्।

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम्।

लालूभट्टोपनामश्रीबालकृष्णदीक्षितविरचितटिप्पणीसमेतम्।

श्रीराधावदनेन्दुश्रीपानमत्तचकोरकम्।
गोवर्धनधरं वन्दे व्रजराजकिशोरकम्।।१।।
श्रीमदाचार्यवर्यश्रीविट्ठलेशकृपाबलात्।
सेवाफलस्य विवृतेर्विवृतिं वितनोम्यहम्।।२।।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

सेवायां फलत्रयमिति। सेवायां सिद्धायां सत्यामित्यर्थः। मूले **यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यत इत्यत्र सिद्धावि**तिकथनात् सिद्धस्यैव सर्वत्र फलसाधकत्वात्। तथा च यादृशी सेवना तृतीयास्कन्धे देवहूतिं प्रति कपिलदेवेन ''देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्। सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या। अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी''त्यनेन भक्तिशब्देनोक्ता, तस्याः सिद्धौ मुख्यमध्यमहीनाधिकारभेदेन फलत्रयं ज्ञेयम्। तदेव **फलत्रयमाहुः अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिष्विति। अलौकिकसामर्थ्यं तु** साक्षात् श्रीवृन्दावनादौ श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनस्पर्शनादिकृतिक्षमत्वम्। ''पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंसप्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि। रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ती''तिवाक्यादिह 'पश्यन्ति त' इति तच्छब्देन ''नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः'' इति पूर्वश्लोके उक्ता मोक्षाभिलाषिणो गृह्यन्ते। तेषां मोक्षान्तपुमर्थानभिलाषात् स्वतन्त्रसेवैकाकाङ्क्षया अलौकिकसामर्थ्यं भवति। तेषां पूर्वोक्तभक्त्या प्राकृतलिङ्गशरीरं नश्यति। ''जरयत्याशु या कोश''मितिवाक्यात्। ततो लिङ्गशरीरनाशे सति भगवद्दर्शनाद्यभावे प्रसक्ते सायुज्ययोग्यतायां यदि भगवान् कृपयति तदा दिव्यान्यलौकिकेन्द्रियाणि सम्पादयति, ततस्तैर्भगवद्दत्तैरप्राकृतेन्द्रियैः ''पश्यन्ति ते मे'' इति श्लोकोक्तं दर्शनादि सिध्यति। तदेतदुक्तं मूले।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः।।१।।

अर्थस्तु **अलौकिकस्येन्द्रियवर्गस्य दाने** भगवता कृते सति **आद्यः** 'पश्यन्ती'त्यादिश्लोकत्रयोक्तेषु त्रिषु फलेषु प्रथमो **मनोरथो** भगवद्दर्शनादिविषयकः सिध्येत्, फलपर्यवसायी भवतीति भगवद्दर्शनादेः परमफलत्वम्। ''अक्षण्वतां फलमिद''मितिश्रुतिरूपगोपिकावाक्यात्। अक्षण्वतामिन्द्रियवतामित्यर्थः। तस्मादलौकिकेन्द्रियदानं भगवत्कर्तृकमपेक्षितम्, अन्यथा पूर्वोक्तभक्त्या ''जरयत्याशु

या कोश''मितिवाक्याल्लिङ्गशरीरभङ्गे दर्शनादिकं न सिध्येदिति भावः। न च मास्तु दर्शनादि, सायुज्यमेवास्त्वितिवाच्यम्। ''नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि''दितिवाक्येन तेषां तदनभिलाषात्। इह एकात्मतां न स्पृहयन्ति, अपि तु दर्शनादिकमेव स्पृहयन्तीत्यर्थादायाति। 'मत्पादसेवाभिरता' इति वाक्यात्। अत एव मूले स्पृहापदपर्यायः मनोरथशब्दः उक्तः। अत एव वृत्रासुरेणोक्तं ''न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे'' इति। अर्थस्तु अपुनर्भवं मोक्षमपि त्वां विरहय्य न काङ्क्षे अपि तु त्वामेव फलत्वेन काङ्क्ष इति। एतदेव श्रीव्रजसुन्दरीभिरुक्तं ''अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम'' इति। परो मोक्षः सायुज्यादिरिति सुबोधिन्यां व्याख्यातं च। अत इन्द्रियवतामिदमेव रसात्मकं पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलम्। ''भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य चे''ति सुबोधिन्यां सर्वेन्द्रियभोग्यत्वेन कथनात्। अत एवाक्षण्वतामित्यस्य सुबोधिन्या''मात्मलाभान्न परं विद्यते''तिश्रुतेर्मोक्षस्यैव पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलम्, तद्रहितानां तु मोक्ष एव फलमिति व्यवस्थापितम्। पुष्टिभक्तास्तु भगवद्दत्तेन्द्रियाणि लब्ध्वा सकलेन्द्रियैः रसात्मकं स्वरूपमनुभवन्ति। न ह्येतादृक्त्वं सायुज्यादाविति। ''ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा सङ्घातस्य विलीनत्वा''दितिनिबन्धात्। अत एव ''दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना'' इत्यनेन सालोक्यादीनामग्रहणमुक्तम्। न च मोक्षसुखाज्ञानान्न गृह्णन्तीतिवाच्यम्। ''मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोन्यत्कालविप्लुत''मितिवाक्ये सेवया पूर्णा इत्युक्त्या तेषां भगवता सभाजनात्, अन्यथा अज्ञत्वान्न गृह्णन्तीति भगवान् तेषां निन्दामेव कुर्यान्न स्तुतिम्। अतो ज्ञायते भगवत्सेवायां मोक्षादप्यधिकरसोस्तीति। ''मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु''रिति वाक्याच्च। अतः फलदशायामाधिदैविकवृन्दावनादौ या फलरूपा भगवत्सेवा सा मोक्षादप्युत्कृष्टा। अतः सा भगवता परमानुग्रहभाजनाय तादृशाधिकारिणे पुष्टिभक्ताय दीयते, न तु सर्वेभ्यः भक्तेभ्य इति ज्ञेयम्। ''अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग''मिति शुकवाक्यात्। इह भक्तियोगमित्यस्य फलरूपपुष्टिभक्तियोगामित्यर्थो ज्ञेयः। एतस्मिन् श्लोके मुक्तिं ददाति भक्तिं न ददातीत्युक्त्या भगवत्कर्तृकदानं विना तादृशी भक्तिर्न प्राप्यत इत्युक्तं भवति। अत एवात्रापि मूले **अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथ** इत्यनेन दानमेवोक्तम्।

तथा च सिद्धमेतत्। **अलौकिकसामर्थ्यरूपं** फलं पुष्टिमार्गीयसेवायामेव, फलद्वयं तु मर्यादाभक्तानाम्। ननु तृतीरस्कन्धे कपिलवाक्ये ''देवानां गुणलिङ्गाना''मित्यत्र भक्तेर्लक्षणमुक्त्वा ''पश्यन्ति ते मे'' इत्यादिना भक्तिफलत्वेन फलत्रयमुक्तम्।

---

१ पुष्टियोगामिति पाठः।

तत् कथमुच्यते **सेवायां फलत्रयमिति चेत्**। न। भक्तिशब्देन सेवाया एवाभिधानात्। भजसेवायामितिधात्वर्थात्। ''लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्'' ''अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे'' ''सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः'' ''स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत'' इत्यत्रादौ भक्तिपदमुक्त्वा, मध्ये सेवनपदं पठित्वा अग्रे स एव भक्तियोगाख्य इति भक्तिपदमुक्तम्। अतोपि ज्ञायते भक्तिशब्देन सेवैव। ''देवानां गुणलिङ्गाना''मितिलक्षणमुक्त्वा ''नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता महीदा'' इत्यत्र 'सेवाभिरता' इत्यनेन सेवैवाभिहिता, अतोपि भक्तिशब्देन सेवैव। तदुक्तं निबन्धे सर्वनिर्णये, ''भक्तिशब्दस्य धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेमे''ति। तथा च प्रेमसेवा भक्तिशब्दार्थः। इयमेव प्रेमसेवा मानसी सेवेत्युच्यते ''चेतस्तत्प्रवणं सेवे''ति सिद्धान्तमुक्तावल्यां मनोवृत्तेः सेवात्वकथनादत्रापि ''मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु ये''त्यनेन मनोवृत्तेर्भक्तित्वकथनात्। अतो **यादृशी सेवना प्रोक्तेत्यत्र सेवनाशब्देन** मानसी सेवोच्यते। तस्याः सिद्धौ अलौकिकसामर्थ्यरूपं फलं भवति, तस्यास्तारतम्ये गौणं फलद्वयमुक्तम्। अतो भक्तिशब्देन मुख्यतया मानसी सेवाभिधीयते।

इदं त्ववधेयम्। ''देवानां गुणलिङ्गाना''मिति भक्तेः स्वरूपलक्षणमुक्त्वा ''नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरतामदीहा'' इत्यनेन भक्तेः कार्यलक्षणमुक्तम्। तथा च मोक्षान्तपुमर्थस्पृहाराहित्यसम्पादकत्वं तादृग्भक्तित्वमिति भक्तेः कार्यलक्षणम्। एवं सति सर्वपुमर्थान् भक्ता न स्पृहयन्तीत्युक्ते भगवत्स्वरूपमात्रं स्पृहयन्तीति सिध्यति। एवं सकलपुरुषार्थाभिलाषशून्ये पुरुषोत्तमस्वरूपमात्रफलाभिलाषिणि भक्ते परमानुग्रहपरवशो भगवान् स्वरूपात्मकफलप्राप्तये तत्फलप्राप्त्यनुकूलमलौकिकसङ्घातं सम्पाद्य स्वयं फलरूपेण सर्वेन्द्रियविषयो भवति। तदेतदुक्तम्। **अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः** इति मूले, **अलौकिकसामर्थ्यमित्यनेन** टीकायां विवृतं च। ननु तृतीयस्कन्धे अलौकिकविग्रहप्राप्तिर्नोक्तेति कथमत्राचार्यैरलौकिकसामर्थ्यं फलत्वेनोक्तम्। तत्किं प्रमाणकमिति चेत्, श्रूयताम्। ''पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंस प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानी''त्यनेन भगवद्दर्शनादीनां फलत्वेनोक्तिरत्र मानम्। अन्यथा तादृशमलौकिकसङ्घातं विना ''पश्यन्ति ते म'' इत्यत्रोक्ता दर्शनाद्युक्तिर्विरुध्येत। लौकिकेन्द्रियवर्गस्य निवृत्तत्वात्। ''जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथे''तिवाक्यात्। अतो दर्शनाद्यन्यथानुपपत्या अलौकिकदेहेन्द्रियप्राप्तिराक्षिप्यते। सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिः। तथा च सिद्धमलौकिकसामर्थ्यरूपमुत्तमं फलमुत्तमानाम्॥१॥

एवमुत्तमाधिकारिणामुत्तमफलमुक्त्वा मध्यमाधिकारिणां फलमाहुः सायुज्यमिति। ''मद्भक्तिं लभते परां'' ''भक्त्या मामभिजानाती''त्युक्त्वा ''विशते तदनन्तर''मित्यत्रोक्तं सायुज्यमित्यर्थः। इदं मध्यमं फलम्, अलौकिकसामर्थ्यापेक्षया

हीनम्, सेवौपयिकदेहापेक्षयोत्तमम्। अतो मध्यमम्। अलौकिकेन्द्रियवर्गस्य दानसापेक्षत्वान्मध्यमानां तदलाभे सायुज्यं भवति। तदुक्तं मूले, फलं वेति।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

फलशब्देन सायुज्यम्। साधारणमर्यादया सर्वेषां भक्तिमतां तत्प्राप्तेः। ''हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्तत'' इति तृतीयस्कन्धवाक्यात्। न चात्र वाक्ये 'अनिच्छत' इतिपदेन मोक्षेच्छाशून्यानां पुष्टिभक्तानां ग्रहणात्तेषामेव सायुज्यलाभोस्तीतिवाच्यम्। मोक्षस्पृहयैव तैर्भगवद्भक्तेः कृतत्वात्। अनिच्छाकथनं तु भक्तिमहिम्ना कदाचित्तादृशभावोदयात्। न ह्ययं भावस्तेषां सार्वदिकः। अतो भगवति प्रेमाप्येतेषां सोपाधिः। मोक्षदातृत्वेन भगवति जातत्वात्। अत एतेषां सायुज्यप्राप्तिर्भवति। एतच्च तृतीयाध्यायभाष्ये स्फुटम्। पूर्वोक्तालौकिकसामर्थ्यरूपफलाधिकारिणां तु भगवति निरुपाधिकं प्रेम। सायुज्यादिपुमर्थस्य स्पृहाराहित्येनैवोत्पन्नत्वात्। अतो भगवत्स्वरूपस्य सकलेन्द्रियास्वाद्यत्वेन तेषामपेक्षितत्वादलौकिकसङ्घातं दत्वा सर्वेन्द्रियास्वाद्यो भवति, येषां मोक्षदातृत्वेन सोपाधिकं हरौ प्रेम तेषां सायुज्यमितिविवेकः।

एवं मध्यमानां फलमुक्त्वा हीनानां फलमाहुः **सेवौपयिकदेहो वेति**। व्यापिवैकुण्ठादौ पार्षदादिदेहप्राप्तिरित्यर्थः। ''अथो विभूतिं मम मायाविनस्तामैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम्। श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेश्नुवते तु लोके'' इतिकपिलवाक्यात्। एतदाभासे ''सालोक्यादिरूपं फलमाहे''ति सुबोधिन्यामुक्तत्वात्।

अत्र केचिद्वैकुण्ठशब्देन व्यापिवैकुण्ठेतरवैकुण्ठानां ग्रहणमिति वदन्ति। तन्न। ''व्यापिवैकुण्ठे सर्वमैश्वर्यादिकमश्नुवत इत्यर्थ'' इति सुबोधिन्यामुक्तत्वात्। न चालौकिकसामर्थ्ये मुख्यफले तादृशविग्रहप्राप्तिरुक्ता, एवं तृतीयेपि सेवौपयिकदेहस्याप्राकृतस्य प्राप्तिरुच्यते, अतः प्रथमतृतीययोः साम्यमापतितमिति वाच्यम्। प्रथमफले भगवतः सर्वेन्द्रियभोग्यत्वेन तद्भोगानुगुणदेहलाभः, तृतीये तु सेवामात्रयोग्यदेहलाभ इति विशेषवैलक्षण्यात्।

इदमत्र ज्ञेयम्। अलौकिकसामर्थ्यरूपं फलं व्यापिवैकुण्ठान्तर्वर्तिनि आधिदैविके वृन्दावनबृहद्वनादौ प्राप्यते। ''पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंसे''त्यस्य व्याख्याने वृन्दावनादौ भगवत्साक्षात्कारो भवतीति सुबोधिन्यामुक्तत्वान्मूले अधिकारशब्देन सेवौपयिकदेहो गृह्यते, तादृशदेहस्य सेवाधिकाररूपत्वात्।

एवं फलत्रयमुक्तम्। तत्रालौकिकसामर्थ्यरूपं फलं पुष्टिभक्तानाम्। सायुज्यं सेवौपयिकदेहो मर्यादाभक्तानाम्। अत एव नवमनिबन्धे ''देहभावे दृढे तु स्याद्भक्तानां कृष्णदासता। सायुज्यं वान्यथा तस्मिन् गङ्गातीरे न संशय'' इत्यनेन गङ्गासेवातः सायुज्यसेवौपयिकदेहप्राप्तिरुक्ता। सिद्धान्तमुक्तावल्यां ''मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्पर'' इत्यनेन मर्यादास्थस्य तु गङ्गासेवनमुक्तम्। अत एव ''मर्यादाभक्तिमार्गस्य काष्ठा गङ्गा परा मते''ति निबन्धे उक्तम्। अत एव मर्यादाभक्तेः

सायुज्यादिफलम्। पुष्टिभक्तेस्तु नित्यलीलाप्रवेशरूपं फलमिति स्पष्टमेव तृतीयचतुर्थाध्यायभाष्ये निरूपितमिति दिक्।

न कालोत्र नियामकः। अत्र फलत्रयेपि **कालो न नियामकः**। फलत्रयं कालपरिच्छेद्यं न भवतीत्यर्थः। ''न कर्हिचित्मत्पराः शान्तरूपे नक्ष्यन्ति नो निमिषो लेढि हेति''रिति कपिलवाक्यात्, ''मत्परा न नङ्क्ष्यन्ती''त्युक्त्या मत्परशब्देन फलत्रयप्राप्तानां ग्रहणात्॥१॥॥

कार्यमात्रप्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणतास्वीकारात् सेवासिद्ध्यर्थं सेवाप्रतिबन्धा दूरीकर्तव्या इति तदर्थं प्रतिबन्धकान्निरूपयिन्त।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्॥२॥

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्।

सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्, उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा। उद्वेगो भगवत्सेवासमये चित्तक्लेशप्रदश्चाञ्चल्यविशेषः। स च भगवत्सेवां प्रतिबध्नाति। **भोगः** सुखसाधकतया विषयासक्तिसम्पादकत्वेन भगवदासक्तिविरोधात् सेवाविरोधी। एतत्प्रतिबन्धकद्वयं दुःखसुखसाधकं प्रतिबन्धरूपम्। ''प्रतिबन्धकं तूदासीनं दुःखसुखे प्रयच्छती''त्यस्य न नामान्तरेण निर्देशः, किन्तु प्रतिबन्धशब्दवाच्यतैव। ''कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावा''दित्यत्र वाङ्मनसोर्विशिष्टकार्यमादाय इन्द्रियेभ्यः पृथक्तया गणनात्। एवमुद्वेगभोगयोरपि दुःखसुखप्रदत्वेन विशिष्टत्वात् पृथङ्निर्देशः। अन्यथा प्रतिबन्धकशब्देनैव उद्वेगभोगयोर्ग्रहणसम्भवात् पृथङ्नामनिर्देशो व्यर्थः स्यात्। **त्रयाणामिति**। उद्वेगप्रतिबन्धभोगानां यानि साधनानि हेतवस्तेषां परित्यागः कर्तव्य। साधनपरित्यागे प्रतिबन्धानामनुत्पत्तेः। मूले बाधकानां परित्याग इत्यस्य **तेषां साधनपरित्यागः कर्तव्य** इति व्याख्यानं टीकायाम्। प्रतिबन्धकेषु भोगशब्देन लौकिको भोगो ग्राह्यो न त्वलौकिक इत्याहुः भोगो द्विविध इत्यारभ्य **लौकिकस्त्याज्य एवेति** व्याख्यानं टीकायाम्। मूलार्थस्तु **भोगे लौकिकालौकिकभोगे एकं लौकिकभोगात्मकं परं** प्रतिबन्धकमिति। तत्राद्य इति। साधारणप्रतिबन्धभगवत्कृतप्रतिबन्धयोर्मध्ये आद्यः साधारणप्रतिबन्ध इत्यर्थः। तस्य स्वरूपं तु सुखदुःखाजनकत्वेन सेवाप्रतिबन्धकत्वम्। यथा सेवासमये उदासीनेन वागादिव्यवहारः क्रियते स सेवां प्रतिबध्नाति, उद्वेगभोगौ तु दुःखसुखजनकौ, सेवाप्रतिबन्धकाविति विवेकः। **बुद्ध्या त्याज्य** इति। चातुर्येणेत्यर्थः। तथा च व्यवहारचातुर्येण सेवानवसरे लौकिकं कार्यं तथा कर्तव्यं यथा सेवावसरे तादृशं वागादिव्यवहारकार्यमेव न पतेदित्यर्थः। अथवा साधारणप्रतिबन्धो वेदनिन्दारूपः पापरूपश्च। स तु बुद्ध्या त्याज्यः, बुद्धिपूर्वकं तस्य त्यागः कर्तव्य इत्यर्थः। **अलौकिकभोगस्त्विति।** भगवत्सेवार्थं मुखदुर्वासनादिदोषनिवृत्तये ताम्बूलभक्षणादिरूपः, भगवद्वामित्वादलौकिकः। ''मन्निष्टं निर्गुणं स्मृत''मितिवाक्यात्। ''कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा'' इति श्लोके भगवदर्थं कृतस्य दन्तधावनादेरपि भगवद्धर्मत्वस्य नवयोगिप्रसङ्गे कविनोक्तत्वात्। ''धर्मान् भागवतान्

ब्रूते''ति प्रश्नोपक्रमात्। श्रीमत्प्रभुचरणैः **स्वतन्त्रे** तथा व्याख्यानाच्च। फलानां **मध्ये प्रथमे प्रविशतीति**। साधनत्वेन प्रविशतीत्यर्थः। अलौकिकसामर्थ्यरूपफलसाधको भवतीति यावत्। अतोयमलौकिकभोगो न त्याज्यः। तदुक्तं मूले।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा।

अर्थस्तु **महान् भोगः** पूज्यो भोगो भगवत्सेवार्थमङ्गरागलेपादिरूपः निष्प्रत्यूहं निर्विघ्नं यथा स्यात्तथा प्रथमेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे फले प्रविशति, तत्फलसाधको भवतीति यावत्। साधारणप्रतिबन्धस्य बुद्ध्या त्याज्य इत्यनेन निवृत्त्युपाय उक्तः ।।२, ३।।

एवं भगवत्कृतप्रतिबन्धकस्यापि निवृत्त्युपायो वक्तव्य इत्याशङ्क्यय नास्य कश्चिन्निवृत्त्युपाय इत्याहुः **भगवत्कृतश्**चेदित्यारभ्य **विवेक** इत्यन्तेन। **तदा भगवान् फलं न दास्यतीति**। सेवाफलं मुक्तिरूपं न दास्यतीत्यर्थः। **तदान्यसेवापीति**। मुक्तिप्राप्त्यर्थमन्यस्य तीर्थादेरित्यर्थः। तत्र हेतुः। **तदाऽसुरोयमिति**। आसुरस्य तु ''निबन्धायासुरी मते''ति भगवद्वाक्यात् तस्य मुक्तिर्न भवतीति तीर्थादिसेवापि व्यर्थेति भावः। तदुक्तं मूले।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हीति।

यस्य भगवत्कृतः प्रतिबन्धः स आसुरः, तस्य सर्वथा मुक्तिर्नास्तीति निरूपितम्, तर्हि फलाशाराहित्यजनितक्लेशः स्यात्, तत्क्लेशनिवृत्तिः कथं स्यादित्याशङ्क्यय क्लेशनिवृत्त्युपायमाहुः **तदा ज्ञानमार्गेणे**ति। येनाहमुत्पादितः तेन परमेश्वरेण यद्विचारितं तथैव भविष्यतीति मया दुःखं त्याज्यमित्यादिज्ञानरूपेण साधनेन नैश्चिन्त्येन स्थेयमित्यर्थः। तदुक्तं मूले।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्।

साधनमिति शोकाभावसाधनमित्यर्थः। एवं साधारणप्रतिबन्धो बुद्ध्या त्याज्यइत्युक्त्वा भगवत्कृतप्रतिबन्धस्याशक्यत्यागत्वात् तज्जन्यशोकनिवृत्तये ज्ञानमार्गेण स्थेयमित्युक्तम्।।४।।

अतःपरं भोगरूपप्रतिबन्धनिवृत्त्युपायमाहुः **साधारणो भोगः कथमित्यारभ्य त्याज्य** इत्यन्तेन। भोगस्य सुखहेतुत्वेन त्याज्यत्वं न मनस्यायातीत्याशङ्क्ययाहुः।

सविघ्नोल्पोघातकः स्यादिति।

सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्य त्याज्यत्वम्। भोगस्य सविघ्नत्वमल्पत्वं च मुहुर्मुहुर्विचार्य त्यागः कार्य इति भावः। साधारणप्रतिबन्धस्य तु घातकत्वात्त्याज्यत्वम्। साधारणप्रतिबन्धश्च

१ असाधारणप्रतिबन्धस्यापीत्यपि पाठः।

वेदनिन्दारूपः पापरूपश्च। स च महादोषरूपत्वात् सेवासिद्धेर्घातको भवति। अत एव वेदनिन्दायाः पापानां च जन्मान्तरसम्पादकत्वं निबन्धे सेवाप्रकरणे उक्तम्। ''अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा। नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायत'' इति। एतस्य सर्वेषु सेवाधिकारिषु सम्भवात् साधारणत्वम्, सकलसत्कार्यमात्रप्रतिबन्धकत्वाच्च साधारणत्वम्। भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तु असुरमात्रविषयकत्वादसाधारण इति विशेषो ज्ञेयः। **एतौ सदा प्रतिबन्धकाविति**। लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ सदा सेवाप्रतिबन्धकौ। लौकिकभोगस्य वेदनिन्दारूपपापरूपसाधारणप्रतिबन्धस्य च सर्वदा सम्भवात् सर्वदा प्रतिबन्धकत्वमित्यर्थः। तदुक्तं मूले।

बलादेतौ सदा मतौ।

सदा प्रतिबन्धकौ **मता**वित्यर्थः। भगवत्कृतप्रतिबन्धस्याशक्यत्यागत्वा दनिवार्यत्वेन आसुरजीवस्य सेवाफलाभाव इति निरूप्य तत्कृतशोकनिवृत्तये ज्ञानमार्गेण स्थितिः कार्येति पूर्वं निरूपितम्।

अतःपरं येन ज्ञानमार्गोपि नाश्रयितुं शक्यस्तस्यासुरस्य चित्तस्वास्थ्यप्रकारमाहुः ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाहेति। यस्यासुरस्य **ज्ञानस्थित्यभावस्तस्य चिन्ताऽभावसम्पादनार्थमित्यर्थः**। द्वितीय इतीति। भगवत्कृतप्रतिबन्ध इत्यर्थः।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्।।५।।

अर्थस्तु प्रतिबन्धयोर्मध्ये द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे **चिन्ता न** कर्तव्या। तत्र हेतुः। **संसारनिश्चया**दिति। मम संसार एव फलं परमेश्वरेण विचारितं न मुक्तिः। अत आशैव न रक्षणीया। ''निबन्धायासुरी मता'' इति वाक्यात्। एवं च चिन्तापि न कार्येति। एवं प्रकारेण स्वास्थ्यं मनसि सम्पादनीयमितिभावः।

एवमासुरस्य भेदद्वयम्। तत्र ''ज्ञानमार्गेण स्थातव्य''मित्येकः प्रकारः पूर्वं टीकायामुक्तः। मूले **अकर्तव्यं भगवत** इत्यारभ्य **विवेकः साधनं मत**मित्यन्तेनोक्तः। द्वितीयप्रकारस्तु ''ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाहे''त्यनेन टीकायामुक्तः। मूले **द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चया**दित्यनेनोक्तः। एवं द्विविधस्याप्यासुरस्य सेवाफलाभावो निरूपितः, शोकाभावप्रकारश्चोक्तः।।५।।

अतः परमुद्वेगरूपप्रतिबन्धे किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः न त्वाद्ये दातृता नास्तीति।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

आद्य त्रिषु बाधकेषु आद्ये उद्वेगरूपे प्रतिबन्धे तु चिन्ता न त्याज्येति पूर्वस्थाभ्यां

१ तेनासिद्धेरिति पाठः।

चिन्तापदत्याज्यपदाभ्यामन्वयः। तथा चोद्वेगरूपप्रतिबन्धस्य निवारयितुं शक्यत्वेन तन्निवृत्त्युपायचिन्तां कृत्वा उद्वेगो निवर्तनीय इत्यर्थः। असाध्ये हि चिन्तात्यागो विधेयः। ''तस्मादपरिहार्येर्थे न त्वं शोचितुमर्हसी''ति वाक्यात्। साध्ये तु चिन्ता रक्षणीयैव। यद्युद्वेगरूपप्रतिबन्धनिवृत्तिर्न स्यात्तदा किं स्यादित्याकाङ्क्षायामाहुः। **आद्यफलाभाव** इति आद्येन फलाभाव इति तृतीयातत्पुरुषः। आद्यशब्देन प्रतिबन्धेषु आद्य उद्वेगरूपस्तेन कृते फलाभावे **भगवतो दातृत्वं नास्ति,** भगवान् सेवाफलं न दास्यतीत्यर्थः। तत्र हेतुः। **तदा सेवा नाधिदैविकीत्युक्तं भवति।** ''मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या। अनिमित्ता भागवती भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी''ति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात् सेवाया भगवत्परमनोवृत्तिरूपत्वेन तत्र चित्तस्थैर्यस्यापेक्षणादुद्वेगे च चित्तस्थैर्यनाशात् सेवाया आधिदैविकीत्वं न स्यात्, अत उद्वेगनिवृत्तिः कर्तव्येति तात्पर्यम्। पूर्वं **त्रयाणां** साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तं टीकायाम्, **बाधकानां परित्याग** इत्युक्तं मूले। ततश्चोद्वेगत्यागः प्रतिबन्धत्यागो भोगत्यागश्चेति त्यागत्रयमनुमतं भवति। तेषु तृतीयस्य भोगत्यागस्योपायमाहुः भोगाभावस्तदैवेत्यादिना। मूले तृतीये बाधकं **गृहमित्युक्तम्।** अर्थस्तु **तृतीये भोगत्यागे गृहं बाधकम्।** गृहस्थस्य सर्वात्मना **भोगत्यागासम्भवादिति।**

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः।

अर्थस्तु इयमुद्वेगादिप्रतिबन्धकत्रयी अवश्या स्ववश्या न भवति। अतः सदा **भाव्या** विचारणीया, एतत्प्रतिबन्धकत्रय्याः साधनपरित्यागो विचार्यः। एतत्प्रतिबन्धकत्रयात् सावधानतया स्थेयमिति तात्पर्यम्। ननु तर्हि प्रतिबन्धकत्रयसम्भवात् सोपायं सेवामार्गं त्यक्त्वा ज्ञानादिमार्ग एवानुष्ठेय इत्याशङ्कामपनुदन्तो ज्ञानादिमार्गेण सेवासाध्यं फलं न भवतीत्याहुः **सर्वमन्यन्मनोभ्रम** इति। सेवातिरिक्तज्ञानादिरूपं साधनं तु न सेवासाध्यफलसाधकम्। अतोत्र पूर्वनिरूपितफलत्रयाकाङ्क्षिभिरन्यत्साधनं कार्यमितिज्ञानं भ्रममात्रमित्यर्थः।।६।।

ननु पुष्टिमार्गीयस्य भगवदनुग्रहपात्रस्य भगवत्पुष्टिस्वभावात् सेवाफलं सर्वथा भविष्यत्येव प्रतिबन्धकत्रयी त्वप्रयोजिकेति किमर्थं तद्विचारः कर्तव्य इत्याशङ्क्यय तादृशस्यापि एतत्प्रतिबन्धकत्रयी विचारणीयैवेत्याहुः **तदीयैरपि तत्कार्यमिति।**

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

तदीयैः पुष्टिमार्गीयैरपि **तत्कार्यम्।** प्रतिबन्धकत्रयीभावनं कार्यम्। किमर्थं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः **पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।** यद्यपि पुष्टौ फलाभावो नास्ति, तथापि फलविलम्बस्तु प्रतिबन्धकत्रयेण भवेदतः **पुष्टौ** पुष्टिमार्गे न विलम्बयेद्विलम्बं

न कारयेत्, प्रतिबन्धकत्रयादसावधानश्चेत् स्यात्तदा विलम्बो भवेत्, अतः प्रतिबन्धकत्रयीभावनं मुहुर्मुहुः कृत्वा त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः। सोपि शीघ्रमेव, न विलम्बेन। एतद्विलम्बे फलविलम्बो भवेदितिभावः।

ननु प्रतिबन्धकत्रयसाधनपरित्यागेपि सर्वत्र गीताभागवतादौ प्रकृतिगुणानां सत्त्वरजस्तमसां प्राबल्यस्योक्तत्वात्तत्क्षोभकृतः सेवाप्रतिबन्धो भवेत्तदर्थं किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः **गुणक्षोभेपीति।**

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः।।७।।

गुणानां क्षोभेपि एतदेव मदुक्तमेव **द्रष्टव्यं** विचारणीयमिति। एतद्विचारे साधनपरित्याग एवोपायत्वेन स्फुरेत्। गुणक्षोभसाधनं तु सगुणवस्तुसङ्गः। सगुणं वस्तु भगवतैकादशे निरूपितं पञ्चविंशाध्याये। एवं सति सगुणवस्तुस्वरूपं ज्ञात्वा तत्सङ्गस्य त्यागः कर्तव्य। व्यवहारनिर्वाहस्तु ''मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत''मित्यादिवाक्याद्भगवत्सम्बन्धिपदार्थस्य निर्गुणत्वाद्भगवदुपभुक्तशिष्टपदार्थैः कर्तव्यः। तथा सति गुणक्षोभदोषोपि न भवेदित्यर्थः।।७।।

ननु भगवदीयाः पदार्था निर्गुणाः, तैः सम्बन्धदोषपरिहार उक्तः, स च न सम्भवति, सर्वस्यापि पदार्थस्य गुणत्रयात्मकत्वमितिसाङ्ख्य सिद्धान्तादित्याशङ्क्ययाहुः।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः।।७।।।।

भगवच्छास्त्रविरुद्धत्वात् साङ्ख्ययसिद्धान्तोक्तप्रमेयकथनं कुसृष्टिः। अतस्तादृशज्ञानं भ्रम एव। यद्यपि सर्वपदार्थस्य सगुणत्वं, तथापि भगवत्सम्बन्धिपदार्थस्य निर्गुणत्वमेव। ''मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्'' ''मन्निकेतं तु निर्गुणम्'' ''निर्गुणं मदपाश्रय'' मित्यादिवाक्येभ्य इति भावः।

सेवां पुष्टिपथप्रोक्तां कारयित्वा निजां फलम्।
ददातु प्रथमं देवो बालकृष्णो मदीश्वरः।।१।।

इतिश्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णदीक्षितेन विरचिता सेवाफलविवृतिटिप्पणी समाप्ता।।

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम्।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतविवरणसमेतम्।

बार्हबर्हलसन्मौलि वेणुवादविशारदम्।
दुःखं दलयतादुच्चैस्त्रिभङ्गललितं महः।।१।।
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यांस्तत्सुतान् विट्ठलेश्वरान्।
विवृत्या सहितं सेवाफलं व्याख्यायते मया।।२।।
गीताभागवतादावप्युक्तं पण्डितबुद्धिगम्।
पुष्टिसेवाफलं ज्ञात्वा विचारे त्वक्षमान् निजान्।।३।।
विबोधयिषवश्चक्रुर्ग्रन्थं सेवाफलाधिकम्।
सम्यग्विवरणोपेतं श्रीमदाचार्यपण्डिताः।।४।।
षड्गुणाः सप्तमो धर्मी सर्वधर्म्यधिको व्रजे।
यथा विराजते नित्यं तत्सेवायाः फलं तथा।।५।।
सर्वसेवाफलेभ्योत्र ज्ञायतामधिकं पुनः।
इति ज्ञापयितुं सार्धसप्तपद्यैर्निरूपितम्।।६।।

अथ श्रीभगवद्गीताश्रीभागवताणुभाष्यभागवततत्त्वप्रदीपसुबोधिन्यादिसमाकलनासमर्थैः कैश्चिदतिकृपाभाजनैः स्वीयभगवदीयैः पृष्टाः श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वमार्गीयसेवाफलं निरूपयन्ति **यादृशी सेवना प्रोक्तेत्यादि** सार्धपद्येन।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः।।१।।
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

एतस्य विवरणं तु **सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयिकदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति**। अत्र **सेवायामिति** तु **यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धावि**त्येतस्य विवरणम्। **फलत्रयमि**ति तु **फलमुच्यत** इत्यस्य विवरणम्। **अलौकिकसामर्थ्य**मित्यादि **अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथ इत्यारभ्य अधिकारो** वेत्येतदन्तस्य च विवरणं बोध्यम्।

अथ व्याख्या। **यादृशी** ''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धौ तनुवित्तजे''त्यादिना स्वतनुजस्ववित्तजसेवया प्रेम्णि जाते आसक्तिस्वरूपतत्प्रवणचेतस्त्वरूपा फलरूपा मानसी सेवेति सिद्धान्तमुक्तावल्युक्तप्रकारा **सेवना** सेवा मया **प्रोक्ता** तस्याः **सिद्धौ** पूर्णतयाविर्भावे सति यत्फलं भवति **तदुच्यते** कथ्यत इत्यर्थः। ननु सिद्धान्तमुक्तावल्यां तु स्वतनुजस्ववित्तजसेवोत्तरं प्रेमोत्पत्तिः कण्ठरवेण नोक्तेति कथं भवतोच्यत इति चेत्? अत्रोच्यते। ''यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते, बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तना''दित्युपक्रम्य ''बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, अव्यावृत्तौ भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि''रित्यादिना स्वतनुजस्ववित्तजसाधनरूपसेवामुक्त्वा ''ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेदि''त्यनेन साधनरूपसेवोत्तरं प्रेमोत्पत्तिरुक्ता, तदनन्तरमासक्तिरुक्ता, तदनन्तरं व्यसनं चोक्तं श्रीमदाचार्यवर्यैर्भक्तिवर्धिन्यामिति। एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोपरत्रापि प्रवर्तत इति न्यायं मनसिकृत्यास्मत्प्रभुभिः सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतावुक्त ''मेतेन निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवती''ति मयाप्युक्तमित्यवेहि। तत्किं फलमित्याकाङ्क्षायामिदमिदं फलमिति फलत्रयं विवक्षव आद्यं फलमाहुर्मूले **अलौकिकस्य दाने** हीति। एतद्विवरणं **त्वलौकिकसामर्थ्यमि**ति। अत्र द्वितीयातत्पुरुषस्त्वसम्भव्येव, तृतीयापञ्चमीषष्ठीतत्पुरुषाणां सम्भवित्वेपि क्लिष्टार्थता सम्भवतीत्यलौकिकाय सामर्थ्यमिति चतुर्थीतत्पुरुषाश्रयणादलौकिके सामर्थ्यमलौकिकसामर्थ्यमिति सप्तमीतत्पुरुषाश्रयणाद्वा अलौकिकविषयकसामर्थ्यं यावदलौकिकसम्बन्धजनित सुखदुःखानुभवविषयकशक्ततेति यावदित्यर्थो ज्ञेयः। एवं च सति ''निःप्रत्यूहो महान्भोगः प्रथमे विशते सदे''ति मूले, तथा च ''अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीति तद्विवरणे चोक्तो ह्यलौकिकभोगस्य प्रथमफले प्रवेश उपपन्नो भवेत्, तस्याप्यलौकिकपदेन सङ्ग्रहात्। कर्मधारयाश्रयणे तु सामर्थ्यमात्रस्यैवालौकिकत्वात्तदतिरिक्तालौकिक भोगादेरलौकिकसामर्थ्यरूपत्व भावादलौकिकपदेनासङ्ग्रहादलौकिकसामर्थ्यरूप प्रथमफले प्रवेशोक्तिरसङ्गता स्यात्। तस्माच्चतुर्थीतत्पुरुषः सप्तमीतत्पुरुष एव वात्र साधुतरो न कर्मधारय इति बोध्यम्। यद्वा। न लौकिकमलौकिकम्, अलौकिकं च तत्सामर्थ्यं चेति कर्मधारय एवास्तु। न च पूर्वोक्तदूषणापत्तिरिति वाच्यम्। अलौकिकभोगस्त्वलौकिकसुखदुःखसाक्षात्कारस्तु फलानां मध्ये प्रथमे फलेऽलौकिकसामर्थ्येऽधिकरणरूपे प्रविशति प्रविष्टो भवति, तदर्थमेवालौकिकसामर्थ्यस्य भगवता दानात्। एवं च न पूर्वोक्तदूषणापत्तिरिति

दिक्। एवं च विवरणे मूलस्था**लौकिकपद**स्यालौकिक विषयकसामर्थ्यपरत्वेनालौकिकसामर्थ्यपरत्वेन वा व्याख्यानात् कस्यचिदेतत्सङ्गाते कस्यचित्त्वेतद्देहपातोत्तरं वृन्दावनादिष्वलौकिकसङ्गात एव वा ह्यलौकिकविषयकसामर्थ्यरूपस्यालौकिक सामर्थ्यरूपस्य वा फलस्य **दाने** वितरणे स **आद्यः** प्राथमिकः सत्सङ्गादिनेदं प्रथमतयोत्पन्नः प्रियतमभगवत्सङ्गमविषयको भक्तस्य मनोरथः स हि निश्चयेन सिध्येन्मनोरथविषयीभूतपदार्थप्राप्त्या पूर्णो भवेत्, तददाने तु न पूर्णो भवेदित्यर्थः। तथा च मनोरथविषयीभूतप्रियसङ्गमसाधकं प्राथमिकं फलमलौकिकविषयकसामर्थ्यप्राप्तिरिति बोध्यम्। **अल्पः सिध्येन्मनोरथ** इति पाठे त्वलौकिकस्यालौकिकविषयक सामर्थ्यस्यालौकिकसामर्थ्यस्य वा **अदाने हि** निश्चयेन विप्रयोगोद्रेके सति कदाचित् कदाचिन्मनसि जायमानत्वादल्पः स्वल्पो **मनोरथः** प्रियसङ्गमविषयकः **सिध्येदि**त्यर्थो ज्ञेयः। चकारेणैतद्दान एवान्योपि मनोरथः सिध्येदिति व्याख्येयम्। अत्रैवं ज्ञेयम्। प्रथमतो मूलेच्छया 'यमेवे'ति श्रुतेर्निरुपधिरसरूपसपरिकरभगवत्कृपयाशुद्धपुष्टिमार्गीयं वरणम्, तदनु सत्सङ्गादिना प्राथमिको भगवत्सङ्गममनोरथः, तदनु शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयः, तदनु भगवत्प्राप्तिजनकतिरोहिततापक्लेशानन्दाविर्भावाय शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यकृतं निवेदनम्, ततस्तदुपदिष्टोस्मिन्मार्गे गोपिकानामेव गुरुत्वमिति फलप्रकरणीयसिद्धान्ता ''दथ च गोपीभावेन ये भक्ता'' इत्याद्यादिपुराणवाक्याच्च मूलरूपशुद्धपुष्टिमार्गाचार्याणां व्रजभक्तानां यो भावस्तत्सजातीयभावभावनापूर्वकं स्वतनुजस्ववित्तजसाधनरूपसेवाकरणेन दृढतरकथाश्रवणादिना वा कस्यचिद्विनैव प्रेमोत्पत्तिं देहपाते ''स्वयं समुत्तीर्ये''ति श्लोके ''सदनुग्रहो भवा''नित्युक्तत्वात् प्रेमवदाचार्यस्थभगवतदनुग्रहबलेन प्राप्तलौकिकदेहे रसमार्गीयत्वात् पूर्वानुरागमारभ्य सकलप्रेमावस्थाविर्भावः। कस्यचित्तु भगवदिच्छया प्रेमासक्त्यनन्तरमेव पूर्वानुरागजविरहेणैव व्यसनं विनैव देहपाते प्राप्तालौकिकदेहे व्यसनाद्यवस्थाविर्भावः। कस्यचित्त्वत्रैव प्राकृतदेहे प्रेम्णि जाते तदप्राप्त्या पूर्वानुरागजविरहाविर्भावः, ततः स्वसेव्यस्वरूपे वा स्वप्नादौ वातिभाग्येन साक्षादपि वा प्रभुदर्शने ''चक्षुःप्रीतिः स्मृता तत्रातीवादरनिरीक्षण''मिति लक्षणानुसाराद्भगवद्विषयकः परमादरपूर्वकनिरीक्षणरूपश्चक्षूरागरूपप्रथमप्रेमावस्थाविर्भावः। तत''श्चित्तासङ्गः प्रियतमे नित्यं चित्तस्य विश्रम'' इति लक्षणानुसारात् ''ततः प्रेम तथासक्ति''रित्युक्तत्वात्प्रेमोत्तरोत्पन्नासक्तिस्वरूपतत्प्रवणचेतस्त्वरूपचित्तासङ्गरूपद्वितीयप्रेमावस्थाविर्भावः। इयमेवावस्था सेवापदवाच्या। ''अथावस्था निरूप्यन्ते रसावस्थानसूचिकाः। बीजामुरः पल्लवश्च वृद्धिर्विस्तर

एव च। अवस्था द्वितयेन स्याच्चक्षूरागादिषु क्रमात्। चक्षूरागो मनःसङ्गः समल्पो जागरस्तथा। तनुता विषयद्वेषो लज्जात्यागस्ततःपरम्। उन्मादमूर्छामरणान्येता दश दशाःस्मृता'' इत्युक्तत्वाच्चक्षूरागचित्तासङ्गाभ्यां बीजरूपप्रथमप्रेमावस्थोक्ता। ततः ''समल्पस्तु मनोरथ'' इति लक्षणानुसारात्कदा प्रियसङ्गमे एवमेवं भविष्यतीत्यादिमनोरथरूपसमल्प स्वरूपतृतीयप्रेमावस्थाविर्भावः। एतावता किञ्चिदुल्लसितः पूर्वानुरागजन्यो विरहः। अथायमलौकिकविषयत्वादलौकिको विरहः प्रलयानलादप्यतिदुःसहो भावीति लौकिकसामर्थ्यवता शरीरेण मनसा च सोढुमशक्यो देवकृतसम्भोगो मानुषजात्या स्त्रियेवेति भगवता तापक्लेशविशिष्टालौकिकविरहरसभोगसामर्थ्यं प्रथमतो दीयते। तदनूच्छ्वासनिश्वासस्मृत्याद्यनुभावविशिष्टो ''निद्राछेदस्तु निद्राया अभावः परिकीर्तित'' इति लक्षणानुसारान्निद्राछेदरूपश्चतुर्थप्रेमावस्थाविर्भावः। आभ्यां समल्पनिद्राछेदाभ्याममुरावस्थोक्ता। तत''स्तनुता निखिलाङ्गानां दौर्बल्यं परिकीर्तित''मिति लक्षणानुसारात् पाण्डुत्वाद्यनुभावविशिष्टतनुतास्वरूपपञ्चमप्रेमावस्थाविर्भावः। ततो ''विषयेभ्यो निवृत्तत्वमरतिर्विषयान्तरे'' इति लक्षणानुसाराच्चक्षुर्निमीलनासहनशीलताद्यनुभावविशिष्टविषयनिवृत्तिरूपषष्ठप्रेमावस्थाविर्भावः। आभ्यां तनुताविषयनिवृत्तिभ्यां पल्लवावस्थोक्ता। एतावत्पर्यन्तमासक्ति कार्यमेव। अत एव ''स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचि''रित्यनेन गृहारुच्युपलक्षिता विषयनिवृत्तिरुक्ता श्रीमदाचार्यैर्भक्तिवर्धिन्याम्। ततो ''दैहिकान्सकलान् भावान् निजां व्रीडां च दैहिकीम्। परित्यज्य हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात्तदेव हि। लौकिकं वैदिकं चापि तत्कर्ता व्यसनी मत'' इति दशमस्कन्धीयभागवततत्त्वदीपसिद्धान्तसिद्धलौकिकवैदिकप्रियप्राप्ति साधनकरणरूपव्यसनाविर्भावः। ततः पुनः प्रियप्राप्तिदुर्घटत्वज्ञानेन ''उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं स्वमवोचते''ति दशमस्कन्धपद्यव्याख्यानसुबोधिन्युक्ताप्रतीकाय दुःखस्वरूपव्यसनान्तराविर्भावः। येन विना प्रियतमाङ्गसङ्गं क्षणमात्रमपि स्थातुं न शक्नोति, तेन प्रिय तमाङ्गसङ्गं च प्राप्नोत्येव। अत एव ''यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव ही''त्यनेन तत्रैवानुपदमेवोक्तं व्यसनोत्तरमेव कृतार्थत्वमप्रतीकार्यदुःखरूपव्य सनपदवाच्यान्यव्यसनप्राप्त्या। अत एव व्रतरूपव्यसने जाते प्रियप्राप्तिरेव जाता श्रीमतीनां कुमारीणाम्, तदनन्तरं चाप्रतीकार्यदुःखरूपे व्यसने जाते एव च प्रियतमाङ्गसङ्गो जात इति श्रीभागवते स्पष्टमेव। अत्र कृष्ण इति विषयसप्तमी निमित्तसप्तमी वा, ''चर्मणि द्वीपिन''मित्यत्रेव। तथा च कृष्णविषयकं कृष्णनिमित्तं वा यदा प्रथमव्यसनोत्तरमप्रतीकार्यं तापसहितं दुःखरूपं क्लेशापरपर्यायं

द्वितीयं व्यसनं स्यात्तदा ''लज्जात्यागोतिवैवश्यात् त्रपानाशोभिधीयत'' इति लक्षणानुसारादाकस्मिकहसनरोदनाद्यनुभावविशिष्टत्रपानाशस्वरूपसप्तमप्रेमावस्थाविर्भावः। तद''न्वचेतनेषु प्रश्नादिरुन्मादः परिकीर्तित'' इति लक्षणानुसारादाकाशलिङ्गनाद्यनुभावविशिष्टोन्मादरूपाष्टमप्रेमावस्थाविर्भावः। आभ्यां त्रपानाशोन्मादाभ्यां वृद्ध्यवस्थोक्ता। ततः ''प्रलयो रागदुःखादेरिन्द्रियास्तमयो मत'' इति लक्षणानुसारान्निश्चेष्टत्वाद्यनुभावविशिष्टमूर्छापरपर्यायप्रलयरूपनवमप्रेमावस्थाविर्भावः। ततः ''प्राणत्यागोतिदुःखेन मृतिस्तु परिकीर्तिते''तिलक्षणानुसारान्मृतिरूपदश मप्रेमावस्थाविर्भावः। आभ्यां मूर्छामृतिभ्यां विस्तरावस्थोक्ता। तथा चैतादृशानुभावविशिष्टव्यसनोत्तरं प्राकृतदेहपाते सच्चिदानन्दस्वरूपालौकिकदेहलाभे च सति भगवत्स्वरूपानन्दप्राप्त्या कृतार्थः स्यादित्यर्थः। अत एवेदमप्रतीकार्यदुःखमेव प्रार्थितं निरोधलक्षणाख्ये ग्रन्थे श्रीमदाचार्यचरणै''र्यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले। गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुखं स्यान्मम क्वचिदि''त्यादिना। अत्रेदमपि ज्ञेयम्। येषां त्वलौकिकं शरीरं तेषां तु व्यसनान्तरं प्रभुसङ्गम एव, न दशमदशाप्राकट्यम् यथा रासमण्डलमण्डनानाम्। येषां तु लौकिकं शरीरम्, तेषां तु व्यसनानन्तरं दशमदशोदयो भवत्येव, यथान्तर्गृहगतानाम्। इदमेव ज्ञापयितुमन्तर्गृहगतानां लीला। अन्यथा व्रजस्थानां सर्वेषामप्यलौकिकशरीरमिति तासामप्यलौकिकशरीरवत्त्वात्तथाकृतिर्व्यर्था नीरसा च स्यादितिदिक्। ''नन्वन्ते या मतिः सा गति''रिति प्रेमवदाचार्यानुग्रहबलेनात्यसह्येन पूर्वानुरागजभगवद्विरहेण वा तत्क्षणमेव देहपाते प्रियसङ्गमो भविष्यत्येव। अन्यथा ''ये यथा मां प्रपद्यन्त'' इति मर्यादा भज्येतेति किमर्थमलौकिकसामर्थ्यदानं किमर्थं वा न तत्तद्दशानुभावनमिति चेत्। अत्र वदामः। 'रसो वै स' इति श्रुतेः प्रभो रसरूपत्वाद्रसमर्यादयैव स्वस्वरूपदानमित्यलौकिकसामर्थ्यदानं तत्तद्दशानुभावनं चेति जानीहि। अपि च, तत्क्षणमेव देहपाते चक्षूरागादिक्रमेणावस्थानुभावाभावदर्शने रसमार्गीयभगवदीयानां सन्देहः स्यात्को वेद रसस्वरूपभगवत्प्राप्तिरेतस्याथवान्यस्वरूपभगवत्प्राप्तिरिति। तदर्थमेव कस्यचिदलौकिकसर्वावस्थानुभवोत्रैव कार्यते प्रभुणा। तथा सति तत्तदवस्थानुभवस्य प्रत्यक्षतो दृश्यमानत्वेन सर्वेषां रसस्वरूपप्राप्तेर्निश्चयादेतन्मार्गीया प्रवृत्तिरपि निःप्रत्यूहा भवेत्, तदर्थमत्रैवालौकिकसामर्थ्यदानं तत्तद्दशानुभावनं चेत्यलं पल्लवितेन। एवमेवालौकिकसामर्थ्यं साक्षाद्वृन्दावनादिष्वपि दीयत इत्यग्रे व्यक्तीभविष्यति। यद्वा, योस्मिन्मार्गे समायाति तस्य तु ''गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः। अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः। व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ

न्यसेत् सदा। ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेदि''ति भक्तिवर्धिन्यां तनुजवित्तजसेवाकरणे प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्तीत्युक्तत्वात्तदनन्तरं तत्र ''यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव ही''त्युक्तत्वाच्च व्यसनप्राप्तेः कृतार्थीकरणस्वभावात् प्राथमिको मनोरथो व्यसनप्राप्तिविषयको भवति। तत्र व्यसनाविर्भावे महातापोदयात्तत्सहनं लौकिकसामर्थ्येन कर्तुमशक्यमतिदुःसहत्वादिति भगवता व्यसनाविर्भावादव्यवहितपूर्वं तत्समकालमेव वात्रालौकिकसामर्थ्यं दीयते व्यसनसहनार्थम्। एवं **चालौकिकस्य दाने हि। हि** निश्चयेनालौकिस्या**लौकिकसा**मर्थ्यस्य **दाने आद्यः** प्राथमिको **मनोरथो** व्यसनप्राप्तिविषयकः **सिध्येन्निष्पन्नो** भवेत्, व्यसनप्राप्तिः स्यादिति यावत्, तददाने स न निष्पद्यत इत्यर्थः। तथा च शुद्धपुष्टिमार्गीयस्य प्रेमासक्तिरूपायां सेवायां सिद्धायां प्रथमफलमलौकिकसामर्थ्यप्राप्तिरिति श्रीमदाचार्यैरेतस्य प्रथमफलत्वमुक्तिमिति भावः।

अथैतादृशविप्रयोगजनितदेहपातोत्तरं तु बाह्याभ्यन्तरभेदेनेदानीं तु देहस्य लौकिकत्वात्स्थायिभावात्मकभगवत्सम्बन्धेनान्तःकरणस्यैवालौकिकत्वाच्चान्तरेव च भावि परमकाष्ठापन्नं फलत्रयेपि मुख्यफलरूपं द्वितीयं फलमाहुः फलं वेति। अत्र विवरणे फलपदस्य सायुज्यत्वेन व्याख्यानाद्द्वितीयं फलं सायुज्यरूपं वा भवेत्। अत्र वाशब्दो विकल्पार्थः। यद्यतिकृपाविशिष्टमूलाचार्यरूपश्रीमद्व्रज भक्तेङ्गितविशिष्टा प्रभोस्तादृङ्मूलेच्छा स्यात्। अत्र सायुज्यं शुद्धपुष्टिमार्गीयमेव विवक्षितम्, न त्वन्यत्, शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवाफलस्यैव निरूपणात्। ननु सायुज्यमेकविधमेव शास्त्रान्तरेषु श्रूयते, न त्वन्यप्रकारकमतो न त्वन्यदिति निषेधो नोपपद्यत इति चेत्। अत्र वदामः। द्विविधं तावत्सायुज्यं स्थूलतया। तत्रैकमभेदसम्बन्धघटितम्, द्वितीयं तु भेदसम्बन्धघटितम्। तत्राद्यं ''ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवती''त्यादिश्रुतिप्रमाणसिद्धम्, साधारणानुग्रहात् केवलमर्यादारूपमेकविधमेव। द्वितीयं तु त्रिविधम्। तत्रैकं ''ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे''त्यादिगीतावाक्यसिद्धम्। ब्रह्मभावोत्तरसामयिकोत्तमाकस्मिककृपाजनितपरमभक्तिलाभजन्यभगवद्दानोत्तरसामयिकभगवत्प्रवेशरूपगृहादि प्रवेशवत्। प्रवेशस्य भेद एव सम्भवाद्भेदघटितत्वं ज्ञेयम्। द्वितीयं तु 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यादिश्रुतिसिद्धम्। ब्रह्मभावोत्तरसामयिकाकस्मिकोत्तमतरकृपाजनितभक्तिलाभजन्यभगवत्प्रवेशरूपसायुज्योत्तरं तत्सहभावविशिष्टसर्वकामभोगरूपम्। भोगोत्तरंस्वस्मिन्प्रवेशश्च मर्यादासंवलितत्वात्। तृतीयं तु ''केवलेन हि भावेने''ति वाक्येन ''न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे''ति वाक्येन चात्युत्तमतमकृपया ब्रह्मभावज्ञानवैराग्यादिनिरपेक्ष प्रेमासक्तिव्यसनरूपकेवल

भावजनितभगवत्सहभावविशिष्टसार्वकालिकसर्वकाम भोगरूपं च। तत्र गीतोक्तप्रवेशरूपसायुज्ये पुरुषोत्तमप्रवेशमात्रमेव फलम्, विशेषकृपाऽभावात्। न चाक्षरज्ञानमार्गसायुज्यात् को विशेष इति वाच्यम्। अक्षरज्ञानमार्गेत्वभेदेन गणितानन्दाक्षरसायुज्यम्। पुरुषोत्तमज्ञानमार्गे तु भेदेनागणितानन्दपुरुषोत्तम सायुज्यम्, भेदेनानुभूयमानमिति विशेषस्य जागरूकत्वात्। अत एवाचार्यश्चतुर्थस्कन्धनिबन्धे ''सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनानुभवात्तत'' इत्युक्तवन्तः। किञ्चाक्षरस्य धर्मरूपत्वाद्धर्मसायुज्यम्। पुरुषोत्तमस्य तु धर्मित्वादेतत्सायुज्यस्य धर्मिसायुज्यरूपत्वाच्चास्याधिक्यस्यैव विशेषरूपत्वाच्च। ब्रह्मभावोत्तरसामयिक सर्वकामभोगरूपसायुज्ये तु मर्यादारूपब्रह्मभावोत्तरं सर्वकामभोगस्य मर्यादापुष्टिरूपत्वात् प्रमाणानुरोधिपुरुषोत्तमेन सहोत्सर्गतो मर्यादापुष्टिरूपमहिषीसजातीयसर्वकामभोग एव। न तु शुद्धपुष्टिमार्गीयो व्रजभक्तसजातीयसर्वकामभोगः। न च 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यत्र ब्रह्मभावोत्तरं सर्वकामभोग एव श्रूयते, न तु परमभक्तिलाभ इति ब्रह्मभावोत्तरसामयिकभक्तिलाभोत्तरं सर्वकामभोगः कथं भवतोच्यत इति वाच्यम्। 'सह ब्रह्मणे'त्यत्राप्रधानतृतीयानिर्देशात्। तत्राप्रधानत्वं तु ''अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजे''त्यादिप्रमाणैर्भक्तविषय एव भगवतो, नान्यविषय इति मध्ये परमभक्तिर्भवतीति तथोक्तत्वात्। ननु श्रुतिबलेन ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगेपि विनैव भक्तिं परब्रह्मणोप्रधानत्वमङ्गीक्रियतामिति चेत्? न। ''इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहये''दिति वाक्यादितिहासपुराणादिषु कुत्रापि भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गे ब्रह्मणोप्रधानत्वस्याश्रूयमाणत्वात्। अपरञ्च, यदि ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकाभोगो विनैव भक्तिं स्यात्तदा त्वदुक्तं घटेतापि, न तु तथा। यतस्तादृशसर्वकामभोगस्य पुरुषोत्तमज्ञानजन्यभगवत्प्रवेशरूपसायुज्य साध्यत्वात्। तत्र पुरुषोत्तमज्ञानं च भक्तिसाध्यम्। ''ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे''त्यारभ्य ''विशते तदनन्तर''मित्यन्तेन प्रघट्टकेन भगवता पुष्टिमर्यादामार्गे एवमेव सिद्धान्तितत्वात्। अन्यथा सर्वेषामेव ब्रह्मभावापन्नानां सर्वकामभोगः प्रसज्जेत, नियामकाभावात्। अतो ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगस्य भक्तिं विना जायमानत्वाभावादप्रधानत्वं परब्रह्मणो भक्तिकृतमेव, न तु भक्तिं विना कुत्रापीति मदुक्तमेव साधीय इति दिक्। अत एवास्वातन्त्र्यभिया ''मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग''मिति भगवतो भक्तियोगदानाभावः श्रूयते यस्य कस्यचिदिति दिक्। तृतीये सायुज्ये तु वेदमर्यादासंवलनाभावात् प्रमाणशतीतस्वरूपेण प्रमाणातीतभक्तानां प्रमाणातीतसर्वकामभोगः। एवञ्च चतुर्विधसायुज्यस्यापि प्रमाणसिद्धत्वेन प्रकृते सायुज्यपदेन भेदघटितसायुज्येषु तृतीयमेव सायुज्यं विवक्षितम्।

इदमेव च शुद्धपुष्टिमार्गीयं सायुज्यमिति। अत्र ''प्राणेन सायुज्यं सलोकतामाप्नोती''त्यादिश्रुतिप्रयोगाद्युजिर् योग इति धातो'र्बहुलं छन्दसी'ति बाहुलकाद्भावे क्विपा युक्शब्दसिद्धिः, ततः सहशब्देन समासः, ततो वोपसर्जनस्येति सहशब्दस्य सादेशः, ततो भावेष्यञ्प्रत्ययश्च। यद्वा। सहयुनक्तीति सयुक् क्विप्चेतिसूत्रेण कर्तरि क्विप्, सयुजो भावः सायुज्यं सहभाव इति ज्ञेयम्। अत्रेदं तत्त्वम्। कदाचिदतिकृपायां पुरुषोत्तमप्रवेशमात्रलक्षणसायुज्यवतो ब्रह्मभावजनितप्रवेशोत्तरं सर्वकामभोगरूपसायुज्ययोग्यतावतश्चापि शुद्धपुष्टिफलप्राप्तिः केषाञ्चिद्भवति, मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादिति न्यायात्, न तु सर्वेषाम्। अन्यथा मार्गभेदकरणवैयर्थ्यापात इत्यवधातव्यम्। नन्वेतादृशशुद्धपुष्टिफलप्राप्तिश्चेत्केषाञ्चिद्भवति तर्हि तत्सायुज्यं किमर्थं दत्तमिति चेत्? स्वस्व स्वतन्त्रेच्छत्वादि ज्ञापयितुमिति गृहाणेति सर्वं चतुरस्रम्।

अथ यस्मिन् जीवे यादृशी कृपा तस्मिन्तादृशफलदानौपयिकभावप्राकट्य पूर्वकसेवया तादृग्भगवद्रूपं फलमिति सिद्धान्तः, तथा च यस्मिन् व्रजभक्तरत्नेङ्गितविशिष्टाभगवत्कृपा देहपातोत्तरक्षण एव साक्षादङ्गसङ्गविषयिणी तस्य तु पूर्वोक्तप्रणाल्यैतद्देहे तत्क्षण एव मनसि स्वप्नादौ वैतद्देहपातोत्तरं तु वृन्दावनादौ चाविलम्बेन साक्षादङ्गसङ्ग एव भवति। यस्मिंस्तु देहपातोत्तरक्षण एव न साक्षादङ्गसङ्गविषयिणी कृपा, किन्तु विलम्बेन, तस्यापि प्रेमोत्पत्त्यभाव एव वा प्रेमासक्त्यनन्तरमेव भगवदिच्छया वा देहपाते प्राप्तालौकिकदेहे प्रेमाद्यवस्थाविर्भावेन व्यसनाद्यवस्थाविर्भावेन वा विलम्बेन च साक्षादङ्गसङ्ग एव भवति। यस्मिंस्तु दास्यसखित्वाद्यधिकारविषयिणी कृपा तस्य तु तादृग्भावपूर्वकसेवया पूर्वोक्तप्रणाल्यैतद्देहपातोत्तरं वृन्दावनादौ दास्यसखित्वाद्यधिकारविशिष्टा लौकिकदेहप्राप्तिरूपं तृतीयं फलं भवतीत्याहुः **अधिकारो वे**ति। सायुज्यरूपफलदानेनाधिकार विशिष्टदेहप्राप्तिर्वा भवतीत्यर्थः। अत्र **सेवौपयिकदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति** विवरणोक्तवैकुण्ठपदेन ''गोकुलं वनवैकुण्ठ''मिति कृष्णोपनिषदुक्तेः प्रपञ्चातीतभगवन्निवासस्थानं व्यापिवै**कुण्ठा**न्तर्गतं बृहद्वनं नन्दीश्वरं चोच्यते। **आदिप**देन श्रीवृन्दावनश्रीमद्गोवर्धनादि च। तत्र सायुज्यरूपफलादानेऽधिकारः सेवौपयिकदेहरूपो वायथा भवतीत्यर्थः। वैकुण्ठान्तरस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूपभगवल्लोकत्वाभावाद् गोकुलस्यैव तादृग्भगवल्लोकत्वाद्वैकुण्ठपदेन श्रीगोकुलम्, **आदिप**देन वृन्दावनादिकं चाभिप्रेतमिति बोध्यम्। **अत्रालौकिकसामर्थ्यं** यथावान्तरफलरूपम्, मुख्यफलं तु मुख्यसायुज्यमेव, एवमेवाधिकारिदेहप्राप्तिरूपं तृतीयं फलमप्यवान्तरफलरूपमेव, मुख्यं फलं

त्वधिकारिदेहद्वारैवात्रापि मुख्यसायुज्यमेव। स्वदत्ततादृगधिकारिदेहकृत ''त्वत्पृष्टप्रियवार्ताकथनं च ब्रह्मयज्ञोस्त्वि''त्यादिरूपप्रियतमसेवासन्तुष्टश्रीमद्व्रज भक्तरत्नानुग्रहेणैवेति बुध्यस्व। अत एवालौकिकस्य दाने हीत्यत्राधिकारो वेत्यत्र च फलपदाप्रयोगः **सायुज्य एव** च फलपदप्रयोगश्च। अत्रातिरहस्यत्वाच्छ्रीमदाचार्यर**त्नैरलौकिकसामर्थ्यसायुज्यवैकुण्ठा**दिपदानि परोक्षवादत्वेनैव प्रयुक्तानीति ज्ञेयम्। ननु यत्र परशुरामशचीपतिविरि**ञ्चिवदलौकिकसामर्थ्यभोगाधिकारा** दृष्टास्तत्र न सर्वदा दृष्टा इति सामर्थ्यभोगत्वाधिकारत्वसामान्यादेतेषामपि नाशः स्यादिति न परमफलत्वमेतेषामित्याशङ्क्ययाहुः **न कालोत्र नियामक** इति। अत्रालौकिकसामर्थ्यभोगाधिकारेषु सर्वोत्तमप्रभुप्रीत्याधायकत्वात् **काल** आधिभौतिक आध्यात्मिक आधिदैविको वा **नियामको न** भवति, भगवन्नियम्यत्वादित्यर्थः। दृश्यते लोकेपि प्रभुदत्तसामर्थ्ये भोगेधिकारे वाधिकारिणो नियामकत्वाभावः। अत एवोक्तं सगुणस्यैव कालाधीनत्वम्, न गुणातीतस्येति ''मन्निष्टं निर्गुणं स्मृत''मित्यादिना प्रभुणैकादशे। तस्मान्नैषां कालाधीनत्वमिति त्रयाणां फलत्वं निःप्रत्यूहमित्यास्तां तावत्।

यद्वा **अलौकिक**स्यालौकिकविषयसामर्थ्यस्य दाने हि निश्चयेन जातो य **आद्यः** शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयात्पूर्वमेवैतन्मार्गीयसत्सङ्गादिनेदं प्रथमतयोत्पन्नो **मनोरथः सिध्येत्** सिद्धो भवेदित्यर्थः। स आद्यो मनोरथः क इत्याकाङ्क्षायामाहुः वेति। फलरूपो वाधिकाररूपो वा। नात्र सन्देह इति भावः। अत्र फलविषयकोधिकारविषयको मनोरथोपि फलवदधिकारवदेव सुखजनक इति ज्ञापयितुं रूपकेण निरूपणमिति दिक्। तथा च व्रजभक्तभावसजातीयभावैः शुद्धपुष्टिमार्गे भजनं कर्तव्यमिति सिद्धान्तः सम्पन्नः। तत्र व्रजभक्तेषु ''नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नम'' इति वाक्यादनन्यपूर्वाः कुमार्यो भगवति पतिभावयुक्ताः। अन्तर्गृहगतारूपा अन्यपूर्वास्तु ''जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकम्। मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे''ति बृहद्वामनपुराणादथ च ''तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गता, मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोबलाः। ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रश'' इति दशमस्कन्धीयैकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्येभ्यो भगवत्युपाधिरूपजारभावयुक्ताः। अप्रतिबन्धेन प्रभुसमीपं गता अन्यपूर्वास्तु सर्वभावप्रपत्तिपूर्वकनिरुपधिप्रियत्वभावयुक्ताश्च भगवति। तत्र परकीयायामेव रसस्य परमा काष्ठेति रसशास्त्रसिद्धान्तादनन्यपूर्वाणां नन्दाधीनानां भगवति पतिभावयुक्तानां कुमारीणामथ च निरुपधिप्रियत्वभावयुक्तानां नित्यसिद्धानां जारभावयुक्तानां च

श्रुतिरूपाणां चान्यपूर्वाणां परकीयात्वात् परकीयात्वमधर्मविशिष्टत्वेनैव परमकाष्ठापन्नरसरूपभगवत्प्राप्तिः। न तु कुमारीणां स्वीयात्वेनान्यपूर्वाणां तु परकीयात्वेनेति भेदः। तथा सति विवाहितानामेव स्वीयात्वात् श्रीभागवते कुमारीभिर्भगवतो विवाह उक्तो भवेत्। अन्यपुराणादिषु मूलमाधवमाहात्म्ये रुक्मिणीविवाहात्पूर्वं कुमारीणां भगवता समं विवाहः श्रुतो यद्यपि तथापि स कल्पान्तरीयांशावताररूपश्रीकृष्णविषयकः। तत्कल्पीयश्रीकृष्णस्वरूपस्यांशत्वात् तस्यापि स्वरूपस्य पूर्णत्वेनैव व्यासचित्तप्रसादो जातः स्यात्। तस्मात्सारस्वतादिकल्पान्यकल्पीयावतारा अंशावतारा एवेति जानीहि। निरूपितं चैतत्सविस्तरं मत्कृतबहिर्मुखमुखमर्दनाख्ये ग्रन्थ इति तत्रैवावलोकनीयम्। ननु यदि भगवति पतिभाव एव कुमारीणां तदा महिषीप्राप्यप्रमाणानुरोधिभगवत्स्वरूपप्राप्तिः स्यान्न तु लोकवेदातीतप्रमाणाननुरोधिस्वरूपप्राप्तिः स्यादथ च तदनुरोधेनाश्रुतोपि विवाहः कल्पनीयः स्यादिति चेत्। अत्र ब्रूमः। ''कात्यायनि महाभागे महायोगिन्यधीश्वरि। नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः''। ''भूयान्नन्दसुतः पति''रितिमन्त्रयोर्नन्दसुत एव पतित्वप्रार्थना भावना च। स श्रीमान्नन्दसुतस्तु व्रजे ''एकादशसमास्तत्र गूढार्चिः सबलोवस''दिति तृतीयस्कन्धीयश्रीमदुद्धववाक्यादेकादशवर्षपर्यन्तमेव स्थितः। तदुत्तरं तु मथुरायामेव गतः। यज्ञोपवीतं च वैश्यानां द्वादशे वर्षे, यज्ञोपवीतं विना च न विवाहः। स विवाहोपि तज्जातीयानामासुरपैशाचगान्धर्वभेदेन त्रिविधः। तत्रापि वैश्यस्यासुरो मुख्यः। तत्र द्रव्यादानादासुरः, छलेन कन्याहरणात्पैशाचः, गान्धर्वस्त्वन्योन्यानुरागेण ''त्वं मे भार्या त्वं मे पति''रितिसमयरूपः। एवं चात्र यज्ञोपवीतकालाभावेन प्रभोर्यज्ञोपवीताभावादेकादशवर्षाभ्यन्तर एव च कुमारीणां भगवत्सम्बन्धाच्च कोपि विवाहो नात्र वक्तुं शक्यः। तथा विवाहजनितपतित्वाभावान्न महिषीप्राप्यस्वरूपप्राप्तिर्न वा विवाहकल्पनेति बुध्यस्व। न च ''ये यथा मां प्रपद्यन्त'' इति मर्यादाभङ्ग इति वाच्यम्। भगवत्सकाशात् प्रमाणातीतफलप्राप्त्या तासां पतित्वप्रार्थनैव जाता, न तु विवाहजनितपतित्वप्रार्थनेत्युन्नयनात्। अन्यथा ''नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नम'' इत्यत्र विवाहोल्लेखोपि कृतः स्यात्। तस्मादन्याधीनतानिवारणार्थं निःशमतया सर्वदा मिलनार्थं च ''स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं समन्ततः पाति भयातुरं जन''मित्युक्तलक्षणपतित्वमेव प्रार्थितं ताभिर्न तु विवाहजनितपतित्वमिति। अत एव प्रमाणातीतायां रासलीलायामेव तासामाकारणम्। यतश्च न विवाहितपतिभावना प्रभावत एव च न तासामन्यपूर्वाभिः सह लीलायामीर्ष्यादिकं जातम्। विवाहितपतित्वे सति त्वीर्ष्यादिकं कासाञ्चिदपि

सर्वदावश्यमुद्भवेदेव, सत्यभामादिवत्। न च ''तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वक्त्युच्चैः पदानि यत्, यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्ततेऽच्युताधर''मित्यत्रेर्ष्या तासामपि श्रूयत एवेति वाच्यम्। नेयमीर्ष्या सहभोगेपि त्वेकैव भुङ्क्तते इत्यस्मिन्नंशे ईर्ष्या। तथा च समानशीलव्यसनरूपा सखी भूत्वा प्रियविप्रयोगजनितात्यसह्यास्मद्विप्रयोगजनितं दुःखं ज्ञात्वपि यदस्मान् विहाय भुङ्क्तते तत् क्षोभं जनयतीति सखीत्वप्रयुक्ततत्स्नेहजनितेर्ष्या, न तु सपत्निभावजनितेति निर्णयात्। अत एव ''ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखी''मित्यग्रे तस्यास्तासां च सखीभाव उक्तः। अत एवाग्रे तत्सहभावेन रासलीला, अन्यथा तया सहान्याभिः सह वा रासलीलायाममर्यादरसो न स्यात्। तस्मादस्मदुक्ताभिप्राय एवात्र। विवाहितपतिना सपत्नीसहभावकृतलीलायां तु बहिरीर्ष्यादिभावादर्शनेप्यन्तरीर्ष्यासंवलनं तिष्ठत्येव लोके राजमहिषीणाम्। अत एव वासरदाननियमोपि तत्र, अत्र तु सर्वदा सर्वसंवलितत्वेनैव लीलाकरणादिति महदेव वैलक्षण्यमित्यास्तां तावत्प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तया। एवं चैतादृशपतिभावेनान्यपूर्वाणां कुमारीणां जारभावेनान्तर्गृहगतानां निरुपधिप्रियत्वभावेन च रासमण्डलमण्डनानां च परमकाष्ठापन्नरसरूपभगवत्प्राप्तिः, तथा च ''गोपीभावेन ये भक्ता'' इत्यादिपुराणवाक्यात् तादृशभावसजातीयभावेनैवाधुनिकानामपि तादृशभगवत्प्राप्तिरिति सिद्धम्। तत्रायं रसोपरिच्छिन्न इत्यपरिच्छिन्नस्वरूपसर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यः। तत्र जारभावो न सर्वभावप्रपत्तिरूपः कामैकमात्रपूरकत्वेनैव तस्योद्भवात्, परिच्छिन्नस्वरूपत्वात्। अत एव तेन भावेनास्य रसस्य न प्राप्तिरिति तासां प्रतिबन्धोपि जातः। तस्य देहस्य च सगुणभावाश्रयत्वेन सगुणत्वादेव तत्त्यागानन्तरमेव सर्वभावप्रपत्त्या निर्गुणतादृग्रसस्वरूपप्रियप्राप्तिस्तासामजनि, अन्यथा तद्भावस्य सर्वभावप्रपत्तिरूपत्वेन निर्गुणत्वे तच्छरीरस्य च निर्गुणत्वे तेनैव शरीरेण प्रियप्राप्तिः स्याद्रासमण्डलमण्डनानामिव। अत्राधिकपूर्वपक्षसमाधानानि तु फलप्रकरणीयसुबोधिन्यामवलोकनीयानि। तथाचातिप्रतिकूलद्वेषादिभावेनापि चेत् प्रभुर्योगीन्द्रप्रार्थ्यां मुक्तिं ददाति तदातिप्रेमसंवलितजारभावेन कथं न गुणातीतरसरूपस्वरूपं दद्यात्। परन्त्वेतद्देहपातानन्तरमेव सर्वभावप्रपत्तिमुत्पाद्यैव दास्यति। एतादृशस्वरूपस्य सर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यत्वात्। एवं च सति यद्येतदनन्तरमपि सर्वभावप्रपत्तिरेव भाविनी, तर्हि भगवति सर्वभावप्रपत्तिरेव कार्या, न तु जारभावः। ''प्रक्षालनाद्धि पमस्ये''ति न्यायात्। यदि कुत्रापि सर्वोपमर्देन जारभाव एवोदेति तदा भगवदिच्छैव तथा, परन्तु सर्वभावप्रपत्तिमुत्पाद्यैव तत्रापि फलं दास्यतीति

ज्ञेयम्। न च ''ये यथा मां प्रपद्यन्त'' इति प्रतिज्ञाविरोध इति वाच्यम्। सर्वभावप्रपत्तिलभ्यप्रभुरूपप्राप्तौ जारभावजन्यकामपूर्तिरूपफलस्याप्यन्तर्भूतत्वात् प्रतिज्ञाविरोधाभावात्, तस्माज्जारभावेन भगवद्भजनं न कर्तव्यमेव। अत एव सर्वभावप्रपत्तिसहितानां रासमण्डलमण्डनानामपि कामपूर्तिरूपफलमपि दत्तं प्रभुणा, अन्यथा तन्न दत्तं स्यात्, ततो ज्ञायते सर्वभावप्रपत्तिलभ्ये फले तदप्यन्तर्भूतमिति। न च पतिभावेपि न सर्वभावप्रपत्तिः, पतित्वभावस्यापि परिच्छिन्नत्वादिति शमनीयम्। पतिव्रतानां पत्यौ भगवत्ताज्ञानपूर्वकभजनस्य विहितत्वात् सर्वत्र सर्वदा सर्वसमयेषु च मम पतिरेव गतिरिति सर्वभावप्रपत्तेः सत्त्वात्। एवं च सति यत्र विवाहिते लौकिकेपीयं रीतिस्तत्रालौकिके साक्षाद्भगवति पतिभावे सर्वभावप्रपत्तिरिति किं वक्तव्यमिति। न च तर्हि महिषीणां कुतो न सर्वभावप्रपत्तिजनितं फलं जातमिति वाच्यम्। विवाहरूपसंस्कारस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वादिति दिक्। तथा चानन्यपूर्वकुमार्यभिप्रेतकुमारीसजातीयपतिभावेनान्यपूर्वव्रजसीमन्तिनीनिष्ठनिरुपधिप्रियत्वभावेन वा भजनं कर्तव्यमिति निष्कर्षः। तत्रेदं भजनं श्रीमद्व्रजभक्तभजनोपेक्षया स्वातक्त्र्येण न कर्तव्यम्, यत एतादृग्भावेन भजने ''मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्। जाननन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति मर्मणी''त्यादि पुराणेऽर्जुनं प्रति भगवता स्वसपर्यां गोपिका एव जानन्तीत्युक्तत्वाद्व्रजभक्ता एव गुरवः। तथा च तत्समकक्षतया स्वातक्त्र्येण भजने गुरुहेलनरूपापराधः प्रसज्येत। तथा च भगवान् फलं न दद्या''दाचार्यं मां विजानीया''दिति वाक्यात्। किञ्च, ''न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः। या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलां संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुने''त्यादिफलप्रकरणीयप्रभुवाक्यादयं प्रभुरेतदधीन एव सर्वदा क्रीतजनवन्न त्वन्याधीनः, अतोपि न तदुपेक्षया भजने फलप्राप्तिः। न च ''अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः। नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा। ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे। मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः। वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथे''त्यादिनाम्बरीषादिभक्ताधीनत्वमपि श्रूयते, न त्वम्बरीषादेरेतत्स्वरूपप्राप्तिरिति वाच्यम्। ''भक्तिभेदो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते। स्वभावगुणभेदेन पुंसां भावो विभिद्यत'' इतिवाक्याद्भक्तिमार्गोनेकविधः, तेषु च भक्तिभेदेष्वेतासां भक्तिरत्युत्तमा, परमकाष्ठापन्नस्वरूपलाभात्। अत ए''वैताः परं तनुभृतो ननु गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः। वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य''। अत्रैता गोपवध्वः परमतिशयेन तनुभृत इत्यनेनान्ये

भक्ता अतिशयेन तनुभृतो न भवन्तीत्युच्यते। नन्वत्र किं कारणमित्याकाङ्क्षायामाहुः गोविन्द एवेति। गोविन्द एव निरूढभावाः, न त्वन्यस्मिन्। निरूढः वक्तुमशक्यो भावो यासां ताः। यथा निरूढशब्दे व्युत्पत्तिर्न कर्तव्या तादृगर्थाभावात्तथैतासां भावेपीति भावः। गोगोकुलेन्द्रवाचकेन गोविन्दपदेन च धर्मिमात्रपरता तासां निरूपिता। नन्वन्यभावभक्ता अपि महिष्यादयो धर्मिपरा एवेत्याशमायामाह निखिलात्मनीति। निखिलानामन्येषां धर्मिणां धर्माणामप्यात्मा मूलरूपधर्मीत्यर्थः। तादृशत्वं श्रीयशोदानन्दने श्रीकृष्ण एव, ''कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मना''मिति वाक्यात्। तथा चान्ये धर्मिपरा अपि न निखिलात्मस्वरूपश्रीकृष्णरूपधर्मिपरा इति भावः। नन्वेवं किमित्ययं भावः स्तूयते, भिन्नरुचिर्हि लोक इति न्यायाद्यस्य यद्रोचते स तमेव भावं तमेव स्वरूपं च सर्वोत्कृष्टं जानातीति चेत्तत्राह वाच्छन्ति यद्भवभियो मुनय इति। पूर्वं संसारभयेन मुनयः मननशीला भूत्वा प्राप्तज्ञाना निवृत्ताविद्याः शुकादयोपि यद्यस्मात्कारणात् वाञ्छन्ति यं भावम्। तथा च येन निःशेषाविद्याभाववन्तस्त एवान्यप्रकारकं भावमन्यप्रकारकं भगवत्स्वरूपं च सर्वोत्कृष्टत्वेन परमकाष्ठापन्नं जानन्तीति भावः। किञ्च वयमपि वैश्यापेक्षयोत्कृष्टाः क्षत्रियाः लौकिका अपि वाञ्छामः। यतोनुभावदर्शनं विना नोत्कृष्टं मन्यते कोपि कमपि। तस्माद्यत्र लौकिकालौकिकानां वाञ्छास्वभावस्तत्स्वरूपमेव तदासक्ताश्च सर्वोपरि विराजमाना इति किं वाच्यमेतत्भावस्यैतत्स्वरूपस्य तन्निष्ठानामासां सर्वाधिकत्व इति निगर्वः। अतः कारणादनन्ताः कथा यस्यासावनन्तकथः श्रीकृष्णस्तस्मिन् यो रसोद्बोधाभाववान् तस्य ब्रह्मजन्मभिः सहस्रमुखचतुर्मुखादिजन्मभिः किम्? न किमपीत्यर्थः। यद्वा जन्मभिः पुनःपुनर्जन्मभिरनन्तकथारसस्य तस्य किं ब्रह्म अक्षरस्वरूपम्? न किमपि। तेषां मनसि ब्रह्मस्वरूपमप्रयोजकं भासत इत्यर्थः। तथा चानन्तकथारसनिष्ठत्वे जन्मैव वरम्, न तु मुक्तिरिति। तथा चैतन्मार्ग एतासामेव गुरुत्वेनान्यस्वरूपस्यान्याधीनत्वेप्येतासां भावस्य सर्वोत्तमत्वात् परमकाष्टापन्नरसरूपभगवत्स्वरूपमेतदधीनमेवेत्यपि विचार्यासामेवातिदैन्येन दास्यकरणे तत्स्वरूपप्राप्तिस्तदनुग्रहेण, न तु स्वातन्त्र्येणेति ज्ञेयम्। अपरं च ''आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्। या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्'' ''वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः। यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रय''मित्यादिना व्रजभक्ताः स्वजनस्यार्यपथस्य च परमकाष्ठापन्नस्य त्यागेन मुकुन्दस्य मोक्षदातुरपि पदवीं येन मार्गेण भगवान् गच्छति तं मार्गमेव तच्चरणरेणुसंवलितं भेजुर्न तु मुक्तिम्। तथा च मुक्त्यपेक्षयापि भगवच्चरणरेणुरेव सर्वोत्कृष्ट इति सिद्धम्। एवं

चैतादृक्चरणरेणोरेतादृशानुभावज्ञापने व्रजसीमन्तिन्य एव गुरव इत्येतासामनुवृत्त्यैव भगवच्चरणरेणुप्राप्तिरिति श्रीव्रजभक्तचरणरेणुसम्बन्धि गुल्मलतौषधिजन्मापि प्रार्थितमतिदीनतया श्रीमदुद्धवैर्वन्दनं च तच्चरणरेणोरेव च कृतमन्यथा गुर्ववज्ञाकृतघ्नताजनितापराधेन न भगवच्चरणरेणुप्राप्तिरिति दिक्। तस्मादेतासां गुरुत्वादेतदधीनत्वाच्च तच्चरणरेणुदास्येनैवैतादृशभगवत्प्राप्तिर्नान्यथेति निःप्रत्यूहम्।

स्यादेतत्। अयं सर्वोपि यत्नो रसरूपप्रभुस्वरूपफलप्राप्त्यर्थमेव। ''रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवती''ति श्रुत्या रसरूपभगवत्प्राप्तेरेव परमफलत्वात्। सा च प्राप्ति''स्तेनैव सर्वभावेन परमानन्दमश्नुते'' इति नादविन्दूपनिषच्छ्रुत्या ''सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते''ति तैत्तिरीयोपनिषच्छ्रुतेश्च सर्वभावप्रपत्तिलभ्यसर्वकामभोगरूपा। स च पूर्णसर्वकामभोगोपि तेषां व्रजसीमन्तिनीसदृशभावेनैव, नान्यभक्तभावसजातीयभावेन। एतदतिरिक्तस्थले प्रभुरंशेनैव, न तु पूर्णस्वरूपेणेति। तथा च तत्कामनया भजने क्रियमाणे व्रजसीमन्तिनीदास्यकरणेपि मनसि तत्समताभावनासत्त्वात् कापट्यसिद्धौ तासां गुरुरूपत्वेन सकपटभजने फलसिद्धेरभावस्तत्समकक्षता च स्यादिति चेत्, अत्र ब्रूमः। परमकाष्ठापन्नरसरूपो भगवान् हि लोकेतिरहस्यतमां पुष्टिलीलां यत् प्रकटितवान् तत्किमर्थमिति पृच्छामः। न च ''आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते। कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रज गोप्यो भविष्यथ। पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले। वृन्दावने भविष्यमि प्रेयान् वो रासमण्डले। जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकम्। मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे''ति बृहद्वामनपुराणोक्तेः श्रुतीनामनुग्रहार्थमिति वाच्यम्। अनुग्रहस्य श्रुतिनिमित्तप्रदर्शितप्रकृत्यतीतलोकेपि कर्तुं शक्यत्वात्। न च ''पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्। ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्ना समुद्भूताश्च गोकुले। हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवादि''ति। ''अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे। भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम्। कृष्णस्य रमणार्थं हि सहस्राणि च षोडश। गोप्यो रूपाणि चक्रुश्च तत्राक्रीडन्त केशव''मित्यादि पद्मपुराणोत्तरखण्डमहाकौर्मादिवाराहपुराणादिवचनसिद्धदण्डकारण्यवास्तव्य महर्षीणामनुग्रहार्थमित्यपि वाच्यम्। दण्डकारण्यस्थमहर्षीणामपि तत्रैव स्त्रीदेहं सम्पाद्य रामरूपेणैव न रमणं कृतम्, किन्तु तद्देहपातानन्तरं स्त्रीदेहं सम्पाद्य ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिवृन्दावन एव श्रीकृष्णरूपेणैव रमणं कृतम्। एवं च तद्देहपातानन्तरमलौकिकदेहं सम्पाद्य श्रुतिप्रदर्शितवृन्दावन एव कुतो नानुग्रहं कृतवानिति प्रश्ने तवोत्तराभावात्, न च स्वतन्त्रेच्छो भगवानिति वाच्यम्। ''अनुग्रहाय

भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः। भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेदि''ति फलप्रकरणीयवाक्याद्भक्तानुग्रहार्थमेवैतादृशलीलाविशिष्टप्रभुप्राकट्यात्। प्रपञ्चे निःप्रयोजनकप्राकट्यस्याश्रुतत्वाच्च। न चानुग्रहं विना नैतादृशफलप्राप्तिरित्यनुग्रहेण प्रापञ्चिकजीवानामप्येतद्देहपातोत्तरं तादृशफलदानं तत्रैव स्थित्वा कुतो न करोतीति वाच्यम्। भगवान् हि रसरूपस्वरूपं प्रापञ्चिकजीवानामपि केषाञ्चिद्दातुं विचारितवान् स्वमुख्यभक्तेच्छापूर्वकस्वेच्छया। तत्र रसरूपभगवत्प्राप्तिस्तु रसरूपभावेनैव योग्या, नान्यादृशभावेन, ''ये यथा मां प्रपद्यन्त'' इति वाक्यात्। तत्र रसरूपभावस्वरूपं साधनं वेदादिषु कुत्रापि नोक्तमतः प्रपञ्चे वृन्दावनं रसरूपस्वस्वरूपं रसरूपं परिकरं च तत्प्राप्त्यनुगुणं रसरूपं साधनं च प्रकटं कृत्वा तादृशसाधनेन तादृशस्वरूपप्राप्तिं महर्ष्यादीनां कृतवान् प्रभुः, तदनन्तरं तादृशसाधनस्याविर्भावादतिभाग्यवतां जीवानां तदनुष्ठाने तत्स्वरूपप्राप्तेर्निःप्रत्यूहत्वमिति तथाकरणाभावात्। न च रसरूपभावमत्रादत्वानुग्रहेणैव कुतो न तादृक्फलदानमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रेच्छेन भगवतैव ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह''मित्युक्तत्वात् तादृक्प्रतिपत्तिं विना तादृशानुग्रहाभावात् तादृशफलदानाभावात् प्रपत्तेरपि तत्रैव दानेत्र प्राकट्यवैयर्थ्यमिति पूर्वमेवोक्तम्। न च ''नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्य'' इति मुण्डकोपनिषद्वाक्याद् विनापि साधनं भगवत्प्राप्तिरिति वाच्यम्। एतद्वाक्यानुपदोक्त ''नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो, न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्, एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधामे''तिवाक्य 'एतैरुपायैर्यतत' इत्युक्तेः पूर्ववाक्येन मर्यादीयसाधनमात्रनिषेध एव, न तु एतैर्मन्मनसि स्थितैरुपायैर्व्रजभक्तसजातीयभावादिभिः यः कश्चन यतते तस्य भगवद्वशीकारकसर्वात्मभावरूपबललाभादेष आत्मा ब्रह्मरूपं हृदये प्रकटं धाम विशते प्रविष्टो भवतीत्यर्थान्न मर्यादातीतसाधननिषेध इति त्वदुक्तेरनवकाशात्। अन्यथा फलत्वव्याहतिः। यत्किञ्चित्साधनसाध्यस्यैव फलत्वात्। तस्मादतिभाग्यवत्तराणां जीवानामेतादृशसाधनेनैवेतादृशफलप्राप्त्यर्थमेतादृशोवतार इति। एवं च व्रजभक्तसमानभावेनाभजने तत्फलप्राप्तेः कस्याप्यभावादेतादृशमार्गप्राकट्यवैयर्थ्यापातः स्यात्। अत एव ''स्त्रियो वा पुरुषो वापि भर्तृभावेन केशवम्। हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशय'' इति बृहद्वामनपुराणे। ''येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा सुहृदो दैवमिष्ट''मित्यादिना श्रीभागवते चोक्तम्। अन्यतैतादृग्वाक्यं व्यर्थ स्यात्। तस्माद्व्रजभक्तसजातीयभावेनैव भजनं कर्तव्यम्। परन्तु व्रजभक्तदास्यपूर्वकमेव, न तु स्वातक्त्र्येण, व्रजभक्तानामेतन्मार्गगुरुत्वात्प्रभोस्तदधीनत्वाच्चेति निष्कर्ष इति सर्वं समञ्जसम्। न च प्रभोर्व्रजभक्ताधीनत्वेन

तद्दास्यकरणेपि यदि ताः प्रतिबन्धं कुर्युः प्रभोः स्वस्वरूपदाने स्त्रीस्वभावसिद्धप्रचुरेर्ष्ययातदा कथमेतादृशफलप्राप्तिरिति वाच्यम्। रसरूपप्रभोरेव फलत्वात् रसस्य च विभावानुभावव्यभिचारिसमूहरूपत्वात् तत्र विभावत्वेन व्रजभक्तानां रसरूपप्रभुत्वात् तेषामप्यनुमत्यैवैतादृग्मार्गप्राकट्यस्य जातत्वेन तत्कृतेर्ष्यया प्रतिबन्धाभावात्। किञ्च, यत्रैव लौकिको नायकोनेकनायकानामेककालावच्छेदेन रसदानं कर्तुं न शक्नोति तत्रैवेर्ष्यापि सम्भवति। अत्र तु प्रभोरलौकिकत्वात् ''कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः। रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोपि लीलये''त्यत्रेवानन्तरूपत्वेन सर्वेषां रसदानकरणसमर्थत्वात् क्वेर्ष्यावकाशः, यतः सर्वत्रैव सर्वानुभववेद्य एव प्रभुः सर्वदा विराजते। ननु प्रभू रसरूपस्तदन्तर्गताश्च व्रजभक्ता विभावत्वेनास्मदादिप्रपत्तिश्च व्रजभक्तदास्यविशिष्टभगवद्विषयकसर्वात्मभावेन। एवं च भगवद्रूपरसानुभवे सिद्धे तत्समये क्वेतासां दास्यं स्थास्यति। न च तदुत्तरमेतासां दास्यं मास्त्विति शमनीयम्। ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते'' इति मर्यादाभङ्गापत्तेरिति चेन्न, अलौकिकरसभोगानुकूलसामर्थ्यस्य प्राप्त्या रसरूपभगवद्भोगस्य व्रजभक्तदास्यभोगस्य चैककालावच्छेदेनैव सम्भवेन ''ये यथा मां प्रपद्यन्त'' इति मर्यादाया अभङ्गात्। न ''चाचार्यं मां विजानीयादि''त्यनेनाचार्यस्य भगवत्त्वेन तद्दास्यपूर्वकमेव जीवैर्भगवद्दास्यं क्रियते साधनदशायाम्, फलदशायां तु भगवद्दास्यमेव तिष्ठति, न त्वाचार्यदास्यम्, तत्र क्वेयं मर्यादा, तथात्रापि भविष्यतीति वाच्यम्। सर्वेषां भगवद्रूपाणां नित्यत्वेनाचार्यरूपस्य भगवद्रसानुगुणभगवल्लीलान्तर्गतत्वात् स्वरूपस्य चालौकिकसामर्थ्येन तद्दास्यकरणस्यापि सम्भवात्। एवमेव सर्वभावप्रपत्त्या भजनमिति प्रभुदत्तालौकिकविषयकसामर्थ्येन सर्वविधलीलास्वप्येतस्य भजनकर्तुः सान्निध्यं सिद्धम्। किं बहुनांशावतारादिलीलायामप्यंशेनैव च भक्तोपि तत्तल्लीलानुभवं करोतीति न कस्यामपि लीलायामेतादृशभक्तासहभावो भगवतः। न चैवं श्रीनारायणादिभक्तस्यापि श्रीनारायणे सर्वभावप्रपत्तेः सत्त्वात् सर्वत्र तत्सहभावप्राप्तौ पुरुषोत्तमसहभावोपि स्यादिति वाच्यम्। ''ये यथा मा''मितिपद्ये मामिति पदेन पुरुषोत्तमत्वेनाङ्गुल्या स्वस्वरूपप्रदर्शनपूर्वकमुक्तत्वादेतस्याः प्रतिज्ञायाः पूर्णपुरुषोत्तममात्रसम्बन्धित्वात्, अन्यथा दण्डकारण्यस्थर्षीणामपि तेनैव स्वरूपेण रसदानं कृतं स्यात् कोसलेन्द्रकुमारेण। किञ्चैतस्याः प्रतिज्ञायाः सर्वभगवत्स्वरूपसम्बन्धित्वे पूर्णत्वांशत्वादिविभागोपि न स्यात्। न चेष्टापत्तिः, तदान्यस्वरूपाणामंशरूपश्रीकृष्णस्वरूपाणामपि श्रीमता व्यासेनोक्तत्वेन चित्तप्रसादो न स्यादिति सर्वमनवद्यम्। एवञ्चैकभक्तसम्बन्धिन्या अपि लीलाया न परिच्छेदस्तर्हि

सर्वभक्तसम्बन्धिन्या लीलायाः परिच्छेदः केन कर्तुं शक्येतेति किं वायनसागोचरमाहात्म्येषु प्रभुतत्परिकरतद्भक्तेषु विचारचातुर्येण। किञ्च ''त्रैलोक्ये भगवद्भक्ताः के त्वां जानन्ति मर्मणि। केषु वा त्वं सदायत्तः केषु प्रेम तवातुलमि''ति श्रीमदर्जुनेन पृष्टो भगवानुवाच ''न तथा मे प्रियतमो ब्रह्मा रुद्रश्च पार्थिव। न च लक्ष्मीर्न चात्मा च यथा गोपीजनो मम। भक्ता ममानुरक्ताश्च कति सन्ति न भूतले। किन्तु गोपीजनः प्राणाधिकप्रिय तमो मम। न मां जानन्ति मुनयो योगिनश्च परन्तप। न च रुद्रादयो देवा यथा गोप्यो विदन्ति माम्। न तपोभिर्न वेदैश्च नाचारैर्न च विद्यया। वशोस्मि केवलं प्रेम्णां प्रमाणं तत्र गोपिकाः। मन्माहात्म्यं मच्चर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्। जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति मर्मणि। निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते। ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्। मम भक्तास्तु ये पार्थ न मे भक्तास्तु ते मताः। मम भक्तस्य ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मता'' इत्यादिपुराणप्रघट्टकान्मद्भक्तपूजाभ्यदिकेति श्रीभागवताद्व्रजभक्तानां भक्तशिरोभूषणत्वात् प्रभोरतिप्रियत्वाच्चापि एतासां दास्यं कर्तव्यम्। एवञ्च सति एतद्दास्यकरणे प्रभोरत्यानन्दाविर्भावेन तासामत्यानन्दाविर्भावान्मनसि सन्तोषेण तदनुग्रहात् तत्पूर्वोक्तं फलं भगवान् ददातीत्यपि तद्दास्यकरणम्। तथा चैतासां गुरुत्वात् प्रभोरेतदधीनत्वाद्भक्तशिरोभूषणत्वादतिप्रियत्वाच्च सर्वथैतद्दास्य करणपूर्वकमेव प्रभुदास्यकरणमिति सिद्धम्।

अथ श्रीमत्स्वामिन्यादीनां सर्वासां समतयैव दास्यं कर्तव्यमथवा न्यूनाधिकभावेनेति पृच्छसि चेत्। अत्रोच्यते। ''यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा। सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभे''ति पद्मपुराणवचनात्। अथ च ''त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या तत्र वृन्दावनं पुनः। तत्रापि गोपिकाः पार्थ तत्र राधाभिधा ममे''त्यादिपुराणवचनात्। ''सर्वश्रेष्ठा गान्धर्व्युवाचे''ति गोपालतापिन्युपनिषच्छ्रुतेश्च गान्धर्व्यपरनामिकायां श्रीस्वामिन्यामेव सर्वापेक्षया भगवतो ममतातिशयात् तत्रैव निजदास्यं मुख्यतया स्थापयित्वाऽन्यासु व्रजसीमन्तिनीषु ''मोहितां दुःखितां सखीमि''त्यादिना सखीत्वोक्तेः सख्याश्च समानशीलव्यसनवत्त्वात् तासां स्वामिनीसमानशीलव्यसनवत्त्वात् तासां श्रीमत्स्वामिन्या अतिप्रियतमानां दास्यमपि स्वामिन्यनुग्रहाकाङ्क्षया स्वामिनीदास्याङ्गत्वेन स्वामिनीवदेव कर्तव्यम्। तासां समानशीलसखीत्वात्तद्दास्यकरणे श्रीस्वामिन्यत्यन्तमनुगृह्णाति। स्वामिन्यनुग्रहे च ता अनुगृह्णन्ति। तदनुग्रहे च व्रजराजकिशोरानुग्रह इति न कदापि कुत्रापि केनाप्यंशेन फलविच्छेदः। अत एव कैश्चिद्भगवदीयैः सिद्धान्तितं श्रीमच्चन्द्रावल्यादिषु स्वामिनीप्रतिपक्षात्वमपि न

सम्भवति, सखित्वोक्तिविरोधात्। अत एव ''यदैव श्रीराधे मिलति रहसि त्वां मधुपतिस्तदैवाकार्याहं निजचरणदास्येतिगदिता। मुदा चन्द्रावल्ये''ति पद्ये अस्मत्प्रभुभिः सखीत्वमेव स्फुटीकृतम्, न तु प्रतिपक्षात्वम्। अत एवास्मत्सर्वस्वायिताः प्रभुचरणाः श्रीमत्स्वामिन्यष्टकतद्द्वादशकषट्पद्यादौ तद्दास्यमेव सविस्तरं प्रार्थयन्तो ''यावन्ति पदपद्मानी''त्यादिनाऽन्यासामपि दास्यं प्रार्थितवन्तः। अन्यथा श्रीस्वामिन्या इवान्यासामपि पृथक्तया दास्यं प्रार्थयेयुर्न तु तद्दास्यप्रार्थनाप्रसङ्गे। सर्वासामपि समप्राधान्यात्। तस्मादन्यासां दास्यमङ्गत्वेनैवेत्यस्मदुक्त एव पन्थाः। ननु एवं चेत् सर्वास्वपि सखीत्वं तदा रसान्तर्गतामानखण्डिताकलहान्तरितादिलीला नोपपद्येतेति चेत्, अत्र वदामः। हृदयादिस्थिताभरणमणिगणप्रतिबिम्बितदृष्टनिजरूपे प्रतिनायिकाभ्रमात् समेतस्थलानागमनाद्वा मानोदयात्। एवमेव बन्धविशेषाकस्मिकललाटसम्क्रान्तस्वचरणतललाक्षारसे सुरतसमयसमुद्भूतनिजदन्तनखक्षतादिषु च कदाचिदतिविस्मरणेन रासस्थनिखिलव्रजभक्तातिरिक्तपरकीयाकृततत्वभ्राक्तया मानखण्डिताकलहान्तरितादिलीलानां सम्भवात्। न च लाक्षारसदन्तनखक्षतादिषु स्वयुथकृतत्वभ्रान्तिरेव कुतो न जायत इति वाच्यम्। तथा भ्रान्ततायामपि तासु परस्परं दृढतरसखीत्वजनितातिप्रेम्णा ईर्ष्यानुदयेन तथालीलासम्भवात्। किञ्च 'योगमायामुपाश्रित' इत्यनेन रसलीलायां योगमायामाश्रितो भगवान्। एवश्च योगमाया यथा-यथा येषां-येषां पदार्थानामुपयोगो रसलीलायाम्, तथा-तथा करोतीति परकीयासम्भोगादिदर्शनजमानादिरसानुभवार्थं परकीयासम्भोगादि प्रदर्श्य मानादिरसानुभवं कारयतीत्यनेनापि प्रकारेण मानादिलीलानां सम्भवाच्च। यदि चात्यन्तमाग्रहो भवतां यच्चन्द्रावल्यादिसम्भोगदर्शनेन मानादिरेतास्वेव च प्रतिपक्षात्वं तदा तत्सर्वं कल्पान्तरीयांशरूपकृष्णावतारीयरसलीलायामेव, न सारस्वतकल्पीयपूर्णावतारसम्बन्धिरसलीलायामिति बुद्ध्यताम्। यदि सारस्वतकल्पे भवदुक्तप्रकारः स्यात्तदा श्रीभागवते स्फुटमुपलभ्येत। उपलभ्यते तु सखीत्वमेव परस्परं फलप्रकरण इति सर्वं चतुरस्रमिति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तया। अत्रेदं ज्ञेयम्। अत्र फलत्रये फलद्वयमेतद्देहेपि भवति परन्तु मनस्येव रसरूपभगवत्सम्बन्धेन मनसोलौकिकत्वाभावात्। सेवौपयिकदेहरूपतृतीयं फलं त्वेतद्देहपातोत्तर एव भवति सर्वथा। सर्वत्र लौकिकदेहपातोत्तर एवालौकिकदेहसम्बन्धसम्भवादिति दिक्॥ १ ॥॥

अथ प्रकृतमनुसरामः। ननु बाधके सति कार्यानुदयाद्बाधकाभावस्य सर्वत्र कारणतेत्यत्र यद्बाधकं तनुजवित्तजरूपसाधनसेवायाम्, तद्वक्तव्यम्, यदभावं सम्पाद्य मानससेवारूपं तत्कार्यं सम्पाद्यतामित्याकाङ्क्षायां तनुजवित्तजरूपसाधनसेवाबाधकमाहुः

उद्वेगः प्रतिबन्धो वेति।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तुबाधकम्।।२।।

एतस्य विवरणं तु **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्। उद्वेगो वा प्रतिबन्धो वा भोगो वा। त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य** इत्यन्तम्। तत्र तनुजवित्तजरूपसाधनसेवायां येन क्रियमाणेन उद्वेगप्रतिबन्धभोगा भवन्ति तस्य परित्यागः कर्तव्यः। तत्परित्यागे तत्साध्योद्वेगाद्यनुदयात्तनुजवित्तजरूप साधनसेवासम्पत्तौ सत्यां मानससेवासिद्धिर्भवतीति भावः। तत्रोद्वेगः शोकदुःखादिजनितो भवति, तेषु शोकादिषु जातेषु ''चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजे''दिति नवरत्नोक्तेभर्गवल्लीला यथा सर्वा तथेयमप्येका भगवल्लीला भगवतः सुखाधायिकेति ज्ञात्वा शोकादित्यागः कर्तव्यो, न तु शोकादिदूरीकरणार्थं यत्नः कर्तव्य इति। अन्यथा यद्यपि भविष्यति तदेव यत्प्रभुणा विचारितमस्त्यतः तस्य स्वरूपेण विघटनं तु न कर्तुं शक्यम्, तथापि प्रभुसुखाधायकलीलापदार्थविघटनेच्छायामपि स्वामिद्रोहो भवेदतः प्रभ्विच्छां ज्ञात्वा तादृशशोकदुःखादिकेषु त्यक्तेषु सत्सूद्वेगकारणाभावादुद्वेगाभावस्य जायमानत्वादुद्वेगसाधनपरित्यागः कर्तव्यः। यद्वा, बलिष्ठम्लेच्छबलिष्ठवेदबाह्यजनितोपद्रवेण साधनरूपसेवायामुद्वेगो भवति तदभावार्थं तत्सान्निध्यरूपसाधनपरित्यागः कर्तव्य इत्येतदर्थं साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तम्।।२।।

तत्रोद्वेगकारणानामनन्तत्वात्तज्जन्योद्वेगानामप्यनन्तत्वात् परिगणना कर्तुमशक्येति सर्वविधमप्युद्वेगमुद्वेगत्वेनैकविधमेव निरूप्य द्वितीयं प्रतिबन्धरूपं तनुजवित्तजसेवायां बाधकमाहुः **अकर्तव्यमि**ति।

अकर्तव्यं भगवत सर्वथा चेद्गतिर्न हि।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्।।३।।

एतस्य विवरणं तु **प्रतिबन्धोपि द्विविधः साधारणो भगवत्कृतश्च, तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्यः। भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्। तदान्यसेवापि व्यर्था। तदासुरोयं जीव इति निर्धारः। तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति विवेक** इत्यन्तम्। अत्र भगवतः **सर्वथा चेदकर्तव्यं** भगवत्कृतप्रतिबन्ध इति यावत्, तदा गतिः तदभावसम्पादकसाधनं किमपि नास्तीति मूलार्थः। अत्र **उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधक**मित्यनेन पूर्वं सेवायां बाधकत्रयं यदुक्तं तत्तु तत्त्रयाभावसम्पादनार्थमेव। अत एव त्रयाणां साधने त्यक्ते तदभावः सम्पद्यत इति त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति विवृतौ स्फुटीकृतम्।

न चबाधकत्रयत्याग एव कुतो नोक्तः, तत्साधनपरित्यागः किमर्थमुक्त इति वाच्यम्। जाते उद्वेगे जाते च प्रतिबन्धे जाते च भोगे सेवाभावस्तत्समयावच्छेदेन सिद्ध एव जाते तत्त्यागः कर्तुमशक्योप्युत्तरसमये तन्नाशोपि स्वयमेव भविष्यतीति व्यर्थस्तत्परित्यागः कर्तव्य इति पुरुषप्रयत्नोपदेश इति मनसिकृत्य सेवाविषये बाधकत्रयं न यथोत्पद्यत एव तथा कर्तव्यं पुरुषेणेत्येतदर्थं त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तत्वात्। एवं च सति **अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्नहीत्यनेन** भगवत्कृतप्रतिबन्धाभावसम्पादनार्थं गतिर्नास्तीत्युक्तत्वादन्यकृत प्रतिबन्धाभावसम्पादनेगतिरस्तीत्यर्थतः सिद्धत्वाद्द्विविधं प्रतिबन्धकमागतमेवेति कण्ठरवेण मूलेनुक्त्वा विवरणे प्रतिबन्धकरूपसेवाबाधकद्वैविध्यमाहुः **प्रतिबन्धोपि द्विविधः। साधारणो भगवत्कृतश्चेति।** तत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धाभावः सम्पादयितुमशक्यः, साधारणस्तु शक्य इति विवरणे आहुः **तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्य** इति। तत्र प्रतिबन्धकरूपसेवाबाधकभेदद्वये **आद्यः** साधारणः प्रतिबन्धो भगवद्विमुखभार्यादिकृतप्रतिबन्धस्तत्र साधनपरित्यागस्योक्तत्वात् तत्साधनरूपो यो भार्यादिः स त्याज्यस्त्यक्तुं शक्यः। तत्त्यागेन प्रतिबन्धाभावरूपबाधकाभावः सम्पादयितुं शक्य इत्यर्थो ज्ञेयः। अत एवोक्तं ''भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद्भगवत्क्रियाम्। उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजे''दिति भागवततत्त्वदीपे।

अथ भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तु न केनापि त्यक्तुं शक्य इत्याहुः **भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यमि**ति विवरणे अर्थः स्पष्टः। ननु भगवत्कृतः प्रतिबन्धः कस्य फलाभावसम्पादकः ? किं कायवायनोभिर्भजनं कुर्वतः पुरुषस्याहोस्विद्भजनेच्छावतो वा ? तत्र नाद्यः। ''इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत्सदे''ति भागवततत्त्वदीपकारिकाव्याख्याने ''एकापि सकृत्कृता परिचर्या परमपुरुषार्थदेति। परं विद्यमानदेहस्य निःकृत्यर्थं सदा परिचरे''दित्याचार्यैः सिद्धान्तितत्वात् किञ्चित्कालिकभजनोत्तरं यावज्जीवं कयाचिद्भगवदिच्छया भगवत्कृतसेवाप्रतिबन्धेपि परम पुरुषार्थलाभस्य सिद्धत्वादत्र भगवान् फलं न दास्यतीति निषेधस्य विरुद्धत्वात्। अत एव ''न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपी''ति एकादशस्कन्धीयप्रभुवचनं 'यानास्थाये'ति वचनं ''सकृदिष्ट्वादिपुरुषं पुरुषो याति साम्यतां संवत्सरं किञ्चिदूनं दित्या यद्धरिरर्चित'' इति षष्ठस्कन्धीयाष्टाध्यायीयशुकवचनं च। न द्वितीयः, विना भगवत्कृपां भजनेच्छानुदयात्, तदुदये च भजनस्य भविष्यत्वनिश्चयेनापि निषेधस्य वैयर्थ्यापातात्। तथाचायं निषेधो भगवत्कृतप्रतिबन्धे कालविलम्बेन फलदानेच्छामेव व्यनक्ति, न तु तददानेच्छामिति भावः। अन्यथा भजनेच्छानुकूलकृपावैयर्त्यं प्रसज्जेतेति। न च विनैवानुग्रहं भजनेच्छोदय इति वाच्यम्। अवतारदशायां

स्वरूपदर्शनेनैवेच्छोदयसम्भवेप्यनवतारदशायां सत्सङ्गश्रीभागवतादिश्रवणं विना शुद्धपुष्टिभजनेच्छोदयस्यादृष्टत्वादश्रुतत्वाच्च। यदि पुनर्विनादर्शनश्रवणादिकमपि शुद्धपुष्टिमार्गीयभजनेच्छोदयः स्यात् तदा पुरुषोत्तमावतारोपि न स्यात्। अत ए''वानुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रित''इत्युपक्रम्य ''विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोनुशृणुयादथ वर्णयेद्य'' इत्यत्र य इतिपदेन यस्यकस्यापि श्रवणवर्णनाभ्यां भक्तिं परामित्यनेन भक्तिलाभ उक्तः, स त्विच्छोत्पादनपूर्वक एव। तस्माद् व्यर्थं भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यादिनिरूपणमिति चेत्, अत्र वदामः। पुत्रादिजन्माद्युत्तरं केनापि प्रतिबन्धेनाकृतपुत्रादिनिवेदनस्य कस्यचिन्महत्तमस्य पुरुषस्य तदनन्तरमतिकृपया पुत्रादिस्नेहेन वा कदाचित् तदनिवेदनस्मरणे मनसि स्यानमम पुत्रादिः शुद्धपुष्टिभजनेन भगवन्तं प्राप्नोत्विति मयास्मै नामनिवेदने दत्वा भगवत्सेवा कारणीया तदा त्वं सेवां कुरु मत्तो नामनिवेदने गृहीत्वेति कथने यदि तस्य हृद्यल्पोप्युत्साहो न दृश्यते कदापि प्रत्युत द्वेषः तदोन्नेयमिदम्, यदस्य भगवत्कृतः प्रतिबन्धोस्ति भगवान् फलं न दास्यतीत्यस्मै नोपदेष्टव्यं किमपीति ज्ञापनार्थत्वेन भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यादिनिरूपणस्य सार्तकत्वात्। ननु तदा शुद्धपुष्टिमार्गीयपूर्णस्वरूपसेवाफलं मा भवत्वस्यांशस्वरूपसेवाफलं तु भविष्यतीत्यंशसेवोपदेश एव कर्तव्यस्तेनेति चेदित्याशङ्क्ययाहुः तदान्यसेवापि व्यर्थेति। अंशांशिनोरभेदादंशस्यांश्यधीनत्वाच्चांशिकृतप्रतिबन्धेंशस्य फलदानासमर्थत्वान्महाराजकृते प्रतिबन्धे सचिवादेरिवेत्यर्थः। नन्वंशिनो न स्वस्वरूपपरमफलदानेच्छा किन्तु स्वल्पफलदानेच्छांशद्वारा तदांशेन फलदानं कर्तव्यमेव, महाराजस्य महाफलदानेच्छाभावेपि सचिवादिद्वारा स्वल्पफलदानेच्छायां सचिवादिनेवेति चेत्, सत्यम्, यत्रांश्यविरोधेनांशभजनं तत्रैवांशेन फलदानं महाराजाविरोधेन सचिवादिभजने सचिवादिनेव, न तु तद्विरोधेन भजने। तथा चैतस्य भगवत्सेवाकर्तव्यत्वकथनेपि कदाप्युत्साहाभावात् प्रत्युत द्वेषोद्भवान्नांशेनापि फलदानमित्यन्यसेवावैयर्थ्यात् सापि नोपदेष्टव्येति सुष्ठूक्तं **तदान्यसेवापि व्यर्थेति**। किञ्च, तदैतादृशस्य यत्स्वरूपं तस्य निर्धारोपि भवतीत्याहुः तदा आसुरोयं जीव इति निर्धार इति। **आसुर** आसुरावेशी आसुरभाववान् वा सहजासुरो वेति निर्धारो निश्चय इत्यर्थः। अत्र कदाचिद्भक्तसन्निधौ यस्य मनसि भगवति सद्भाव उत्पद्यते द्वितीयक्षणे तदसन्निधौ तु नश्यति स आसुरावेशी आसुरभाववान् वा ज्ञेयः। यस्य तु सत्सङ्गेपि भगवति न सद्भावः कदापि स तु सहजासुर इति ज्ञेयः। ननु तर्हि महत्तमकृपावैयर्थ्यप्रसङ्ग इत्याशङ्क्ययाहुः **यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतमि**ति। वा अथवा **यथा** आसुरस्य **तत्त्वनिर्धार** उक्तस्तथा **विवेको** विचारो ज्ञानमिति यावत्। तत्साधनमासुरस्य शोकाभावरूपफलाय मतं सम्मतमित्यर्थः।

अत्रैवं ज्ञेयम्। 'मायेत्यसुरा' इति श्रुतेरसुराणां माया सेव्या, सैवेश्वरः, तत्कृतत्वाज्जगन्मायिकम्, तेषां मुक्तिश्चा''न्धन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासत'' इति श्रुतेर्दैवेष्वनाविष्टानां सहजासुराणां कामनाभावपूर्वकं सम्भूत्युपासकानां तदुपासनारूपसाधनबलेनासुरज्ञानमार्गप्रवेशे सति शोकाभावरूपावान्तरफले जाते सुखदुःखात्यन्ताभावस्वरूपपुनरावृत्तिरहितप्रकृतिलयरूपान्धन्तमःप्रवेशरूपा मुक्तिः। आसुराविष्टानां दैवजीवानां तु निरुपधिकृपया भगवता हतानां मध्ये दैवस्य दैवज्ञानाभावात् स्वरूपबलेनाक्षरब्रह्मणि लयरूपा मुक्तिः, तदाविष्टासुरस्य त्वासुरज्ञानाभावात् स्वरूपबलेनैवापुनरावृत्तिरहितान्धन्तमः प्रवेशापरपर्यायप्रकृतिलयरूपा मुक्तिः। अन्येषां सकामानां सहजासुराणामासुराविष्टदैवजीवानां च ''असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्यापि गच्छक्त्यविद्सोबुधा जनाः'' ''तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्, क्षिपाम्यजस्रमसुरानासुरीष्वेव योनिष्वि''ति श्रुतिभगवद्वाक्याभ्यामन्धन्तमोवृतकेवलदुःखात्मकलोकरूपनरकप्राप्तिस्तद्भोगानन्तरं पुनरासुरयोनिप्राप्तिरेवेति कृतं पल्लवितेन ।

एवं च सर्वं मायिकमेकोस्मदाद्यात्मा स एव परमार्थो मायैवेश्वरो नान्य ईश्वरः कोप्येवं तत्त्वनिर्धाररूपो विवेकः सोस्य **साधनं मतं सम्मतं** यावज्जीवं शोकाद्यभावाय, तदनन्तरं तादृशमुक्त्ये वेतिशेषः। तथा च तादृशपुत्रभार्यादेः संसाराविष्टत्वान्महत्तमकृपया तेषां संसाराभावेन शोकाद्यभापूर्वकतादृशमुक्तिनिमित्तमासुरज्ञानमार्गमुपदिशेदिति भावः। अत एव श्रीमद्वसुदेवैरासुरज्ञानमार्ग एव कंसस्य श्रीमद्देवकीवधोद्यतस्योपदिष्टो न तु दैव इति ज्ञेयम्। इदमेवाहुर्विवरणे तदा **ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति विवेक** इति। **तदा** तेष्वासुरावेश्यासुरभाववत्सहजासुरजीवत्वनिर्धारे सत्येतैरासुरज्ञानमार्गेण स्थातव्यमित्ययं **विवेको** विचारः सिद्धान्तभूत इत्यर्थः। तथा च तान् प्रत्यासुरज्ञानमार्ग उपदेष्टव्य इति भावः। यद्वा पूर्वमासुरोयं जीव इति निर्धार इत्युक्तं तर्हि तेन किं साधनमनुष्ठेयमित्याकाङ्क्षायां तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यमित्यासुरस्यैव साधनमुपदिशन्ति तदा ज्ञानेत्यादिना।

---

१ आवेशजीवास्ते सर्वे दैत्यानां वपुषि स्थिताः, आवेशेन विना ये च मूलदैत्या इति स्मृताः, तेषां तमश्च सम्प्रोक्तं चान्ये देवांशिनस्तथा, तेषां स्थानं च स्वर्गादि तत्तत्पदमवाप्नुयुरितिपद्मपुराणोत्तरखण्डीयवाक्येभ्य आसुरावेशिनां मुक्तेरासुराणामन्धन्तमोरूपनरकप्राप्तेरुक्तत्वात्।

एवं च ज्ञानमार्गपदेनासुरज्ञानमार्ग एवायातीति तथा व्याख्यातमिति ज्ञेयम्। न ह्यासुरस्य सर्वं ब्रह्मेत्यक्षरज्ञानमार्गे पुरुषोत्तमज्ञानमार्गे वाधिकारः, तस्य तामसत्वात्। अत एवेश्वरत्वेनाभिमततामसमायाशक्त्युपासकास्तेषु सत्त्वाभावात् सत्त्वजनितज्ञानाभावे''नोर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था'' इत्युक्ता नोर्ध्वगतिः, किन्तु तामसशक्त्युपासनाजनितज्ञानस्य तमोगुणजनितत्वेन तामसत्वा''दधो गच्छन्ति तामसा'' इत्यधोगतिरूपनिरयान्धन्तमोरूपप्रकृतिलयान्यतरप्रवेश एव, ''ये यथा मां प्रपद्यन्त'' इति वाक्यात्। अत्र अधःपदेनाधममेव विवक्षितम्, न तु नीचस्थानम्, निरयाणां नीचस्थानत्वेपि अन्धन्तमःप्रवेशरूपासुरमुक्तेः सुखदुःखाभावरूपत्वेन नीचस्थानत्वाभावात्, सर्वं ब्रह्मेत्यक्षरब्रह्मज्ञानमार्गे तु ''दैवी सम्पद्विमोक्षाये''ति वाक्याद्दैवसम्पद्युक्तजीवानामेवाधिकारः। अत एव ''जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः। सात्विकः स तु विज्ञेयो भवेन्मोक्षायाधिष्ठित'' इतिमोक्षधर्मीयनारायणीयवाक्यान्मोक्षाधिकारिणां सात्विकत्वेन ''सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञान''मित्युक्तसत्त्वगुणजनितज्ञाने''नोर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था'' इति वाक्योक्तोर्ध्वगमनरूपा स्वर्गमुक्त्यन्तरप्राप्तिर्भवतीति। अत्रोर्ध्वपदस्योत्तममित्यर्थो न तूच्चस्थानम्, स्वर्गलोकस्योर्ध्वलोकत्वेपि ''यन्न दुःखेन सम्भिन्न''मित्यादिवाक्योक्तस्वर्गसुखस्य मुक्तेश्चोर्ध्वलोकत्वाभावात्। तस्मादूर्ध्वपदेनोत्तमत्वमेव विवक्षितमिति ज्ञेयमिति दिक्।।३।।

तथा च यस्माद्बाधकेषु सत्सु न सेवासिद्धिरतस्तत्र यत्साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्याहुः **बाधकानां परित्याग** इति। एवं द्विविधमपि प्रतिबन्धरूपं सेवाबाधकमुक्त्वा लौकिकभोगरूपं सेवाबाधकं वदन्तो द्विविधं भोगमाहुः **भोगेप्येकं तथा परम्। निःप्रत्यूहम्। एतद्विवरणं तु भोगो द्विविधो, लौकिकोऽलौकिकश्च। तत्र लौकिकस्त्याज्य एव। अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशती**त्यन्तम्। अत्र यथा प्रतिबन्धे साधारणस्त्याज्यो, भगवत्कृतस्तु फलविघ्नमेव जनयेत्, तथा भोगेपि सुखदुःखसाक्षात्काररूपभोगरूपवस्तुन्यपि एकं साधारणं लौकिकमिति यावत्, तत् तथा त्याज्यम्, तत्साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः। परं द्वितीयं साधारणाद्भिन्नमलौकिकमिति यावत्, तादृशभोगरूपं वस्तु निष्प्रत्यूहं निर्गतः फलप्राप्तौ विघ्नो यस्मात्तत्फलाप्रतिबन्धकमिति यावदेतादृशमित्यर्थः। तथा च तत्फलानुकूलमेवेत्यर्थ इति भावः। एवं द्विविधोपि भोगो मूले कण्ठरवेणोक्तो यस्तमेव भोगं विवरणे **भोगोपि द्विविधो लौकिकोऽलौकिकश्चेत्यादिना** स्फुटीकृत्य तत्र लौकिकस्त्याज्य एवेत्यनेन लौकिकभोगस्यापि तत्साधनपरित्यागेन

त्याज्यत्वमुक्तम्। ननु कथमलौकिकस्य द्वितीयस्य भोगस्य फलाप्रतिबन्धकत्वमित्याशमायामाहुः **महान् भोगः प्रथमे विशते सदेति**। महानलौकिको भोगस्तु प्रथमे अलौकिकरसोपभोगसामर्थ्यरूपे पूर्वोक्तफले विषयत्वेन प्रविशतीत्यर्थः। नन्वलौकिकभोगस्तु नेह भवति किन्त्वेतद्देहपातोत्तरं साक्षाद्भगवत्सम्बन्धे सति भवति। तथा चात्रालौकिकभोगप्रसक्तेरेवाभावात् तद्भोगप्रसक्तौ सत्यामेव लौकिकभोगवदस्यापि त्यागाशमायां प्राप्तायामेतस्य प्रथमफले प्रवेशवचनं सार्थकं स्यात्तस्मान्महान्भोगः प्रथमे विशते सदेति वचनं व्यर्थमिति चेत्, अत्र वदामः। अलौकिकभोगस्त्वत्रापि मनोमात्रस्य स्थायिभावात्मकभगवत्सम्बन्धेनालौकिकत्वान्मनोमात्रे त्वात्मनि द्वारा भवति, तत्सहनार्थमेवालौकिकसामर्थ्यं भगवता दीयते, अत एवालौकिकभोगस्य प्रथमफलान्तरभावोक्तिः सङ्गता भवति। अन्यथा प्रथमफलान्तरभावोक्तिरसङ्गता स्यात्। तस्माद्यदा तनुजवित्तजसेवया प्रेमोत्पत्तिस्तदनन्तरमलौकिकभोगरूपे अपूर्वानुरागरूपविरहजदुःखसाक्षात्कारे विषयत्वेन प्रविष्टस्य दुःखस्य तापविशिष्टस्य सहनार्थमलौकिकसामर्थ्ये भगवता दत्ते स्वसेव्यश्रीविग्रहे स्वप्नादिषु वा स्पर्शादिजनितविलक्षणसुखभोगप्राप्तिरत्रापि भवति तदाचार्यैर्भोगः प्रतिबन्धकत्वेनोक्तोयं भोगोपि मम प्रतिबन्धकः स्यादिति कदाचित् कस्यचिन्मनसि भवेत्, प्रेमभरेण च स भोगस्त्यक्तुमशक्यस्तदा व्याकुलतया महान्खेद उत्पद्येत, तेन च विरहानुभवप्रतिबन्धः स्यादिति तत्खेदनिवारणार्थं महान्भोगः प्रथमे विशते सदेति मूले अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीत्येतद्विवरणे चालौकिकभोगस्य प्रथमफले प्रवेश उक्त इति तथोक्तेः सार्थकत्वस्य सिद्धत्वान्न त्वदुक्त्यवकाशः कथमपीति बुध्यस्व। ननु लौकिको भोगो न तनुजवित्तजसेवायाः प्रतिबन्धकः किन्तु ''ता नाविद''न्नित्याद्युक्तप्रकारकचेतस्तत्प्रवणत्वतद्रूपायां मानससेवायां प्रतिबन्धकः। यदि तनुजवित्तजसेवाप्रतिबन्धकः स्यात्तदा लौकिकसुखसाक्षात्काररूपभोगाभावे देहस्थितेरभावात् तनुजवित्तजसेवाश्रवणकीर्तनादीनां चाभावे सिद्धे कारणाभावेन प्रेमोत्पत्तेरभावान्मानससेवासिद्धेश्चाभावात् परमफलप्राप्तिर्न भवेदेव कस्यापीति न कोप्यस्मिन्मार्गे प्रवर्तेतेति मार्ग एवायमुच्छिद्येत, तस्मान्न तत्प्रतिबन्धको लौकिको भोगः। सति च लौकिके भोगे ''विषयाविष्टचित्ताना नावेशः सर्वदा हरे''रितिवचनात्तत्कारणविषयावेशेन भगवद्विषयकतनुजवित्तजसेवाभावे कथं पूर्वोक्तं फलं स्यादिति चेत्, अत्र वदामः। लौकिकविषयभोगो द्विविधः, एकः

केवलेन्द्रियपोषको, द्वितीयो भगवत्तनुजवित्तजसेवोपयोगी। तत्र केवलेन्द्रियमात्रपोषकविषयभोगो न कर्तव्यः, किन्तु प्रभुसेवोपयोगित्वबुद्ध्या अथ च स्वस्य दासत्वेन दासधर्मत्वबुद्ध्या च लौकिकभगवन्निवेदितविषयभोगः कर्तव्यः। एवं च ''तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्। तावन्मोहोङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः। त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलमारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमही''त्यादिवचनानि च यैर्भगवत्सेवोपयोगित्वेन दासधर्मत्वेन बन्धकमायाजयसाधकत्वेनानर्थनिवारकत्वेन च भगवन्निवेदितलौकिकविषयजभोगस्य विहितत्वात्। तस्मात्केवलेन्द्रियमात्रपोषकलौकिकभगवदनिवेदितविषयजभोग एव त्याज्यत्वेनोक्तोत्र, स तु तनुजवित्तजसेवाबाधक एवेति स एव त्याज्यो न तु भगवत्सेवौपयिकत्वेन दासधर्मत्वेन च प्राप्तो विषयजभोग इति बाधकत्वाभावेन पूर्वोक्तफलस्य निःप्रत्यूहत्वात्। अत एव ''बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि''रित्यादिना भक्तिवर्धिन्यां तनुजवित्तजसेवाकरणे गृहस्थितिरुक्ता। प्रेमासक्त्यनन्तरमेव च ''तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्। त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः। लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां परा''मित्यनेन भगवद्भजनान्यविषयकव्यासङ्गजनकत्वेन सर्वविधस्यापि गृहस्य त्याग उक्तः सर्वविधभोगाभावसाधकत्वेनेति कृतं पल्लवितेन।।४।।

ननु भगवता साक्षात्सम्बन्धेपि यदि सुखदुःखसाक्षात्काररूपो भोग एव भवति तदा लौकिकभोगः किमर्थं त्याज्यत्वेनोच्यत इत्यनतिपण्डिताशमां परिहरन्त आहुः।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ।

एतद्विवरणं तु **साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकाङ्क्षायामाह सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति। सविघ्नत्वादल्पत्वाच्च भोगस्त्याज्यः। एतौ सदा प्रतिबन्धकावि**त्यन्तम्। लौकिकसुखभोगसुखभोगसाधनानां नाशात्सविघ्नो, अथ च लौकिकभोगः किञ्चित्कालिकत्वात् परिछिन्न इत्यल्पश्च। अथ च परमफलबाधक इति घातकः। एवमेव लौकिकदुःखभोगस्तु यद्विषयक उत्पद्यते तद्विषयस्य कस्यचिदेव प्राप्तिर्न सर्वस्येति सविघ्नो, अथ च लौकिकविषयस्य तुच्छत्वात् तुच्छविषयक इति अल्पस्तुच्छश्च। अथ च परम्परया मानससेवाप्रतिबन्धकत्वात् फलप्राप्तिघातकश्चेति मूले हेतुगर्भविशेषणानि। अत एवात्र भावप्रधानो निर्देश इति ज्ञेयमिति मनसिकृत्याचार्याः सविघ्नत्वादल्पत्वाद्घातकत्वाच्चेति हेतुत्वेनैव विवरणे व्याख्यातवन्तो

भोगविशेषणानि। अत एव एतौ भगवत्कृतप्रतिबन्धसाधारणभोगौ **बलाद्धेतोः** सदा बाधकाविति भावः। नन्वत्रैको भोगः एवोक्तः पूर्वमव्यवहितः, तथा सति सदायं प्रतिबन्धक इत्येकवचनमेव वक्तव्यम्, न त्वेताविति द्विवचनमित्याशमायामाहुः **द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्ध** इति। द्विवचनाक्रान्तैतच्छब्दे **द्वितीयो** द्वित्वसंङ्ख्ययापूरको भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति तात्पर्यात् द्विवचनस्य सार्थक्यमिति भावः।

ननु भगवत्प्रतिबन्धे ज्ञाते संसाराभावायातिकृपया तस्यासुरज्ञानमार्ग उपदेष्टव्य इति पूर्वमुक्तम्, तत्रापि तस्य चेन्न स्थिरता तदा महत्तमैः किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः द्वितीय इति।।५।।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्।।५।।

एतद्विवरणं तु **ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाह द्वितीय** इत्यन्तम्। **द्वितीये** भगवत्कृतप्रतिबन्धे आसुरज्ञानोपदेशपर्यन्तं **चिन्ता** कर्तव्या महत्तमैरतिकृपया। यदासुरज्ञानेपि भार्यादेः स्थितिर्न दृश्यते किन्तु ''कामोपभोगपरमा' इति वचनसिद्धकामोपभोगमात्रपरत्वं दृष्टम्, तदास्यासुरमुक्तिरपि न देया भगवता किन्तु मरणानन्तर''मसुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्यापि गच्छक्त्यविद्वांसोबुधा जना'' इति श्रुत्युक्तान्धन्तमोवृतकेवलदुःखात्मकलोक प्राप्तिपूर्वकं ''तानहं द्विषतः क्रूरानि''त्यादिवाक्योक्तः संसार एव देयोस्येति संसारनिश्चयं प्राप्य सर्वथैव चिन्ता त्याज्या। तादृशपुत्रादिरुपेक्ष्य इति भावः।।५।।

एवं प्रसङ्गादासुरस्य पुत्रादेरुद्धारोपायस्य कर्तव्याकर्तव्यत्वं निरूप्य प्रकृतं विचारयन्ति। ननु यथासुरस्यासुरमुक्तिसंसारयोर्निश्चयः कृतः कामोपभोगपरत्वापरत्वादिलिङ्गैस्तथा शुद्धपुष्टिमार्गीयेष्वेतस्य शीघ्रं फलमेतस्य विलम्बेनेति केन लिङ्गेन ज्ञेयमित्याकाङ्क्षायामाहुः।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति।

तुशब्द आसुरप्रसङ्गनिवारणार्थः। **आद्ये** अलौकिकसामर्थ्यरूपे फले जाते सति भगवतः दातृत्वं नास्तीति न, किन्तु दातृत्वं वर्तत इति ज्ञेयम्। **नन्वाद्य** इति पाठे **नु** निश्चयेन **दातृता नास्तीति न,** किन्तु वर्तत एवेत्यर्थो ज्ञेयः। एतद्देहे मनसि एतद्देहपातोत्तरं चालौकिकसङ्घात एव फलं भविष्यतीति भावः। अयं मूलार्थः स्पष्ट एवेति मत्वाद्ये दातृता नास्तीत्येतस्यार्थमनुक्त्वा **आद्यफलाभावे एतद्देहे मनसि एतद्देहपातोत्तरं** च भगवतो दातृता नास्तीति शिरश्चालनेनोक्त्वा किन्तु

विलम्बेन दातृता वर्तत इत्यर्थतः सिद्धमर्थमाहुर्विवरणे आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति तदा **सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीत्यन्ते**न। यतश्चायमार्थिकोर्थ उक्तोत एव इत्युक्तं भवतीत्युक्तं न त्वित्यर्थ इति। यद्वा आद्यफलाभावे तनुजवित्तजसेवाजनितप्रेमासक्त्यनन्तरमलौकिकसामर्थ्यदानाभावे भगवतो दातृत्वाभावो नास्ति किन्तु विलम्बेन दातृत्वं वर्तत इत्यकारप्रश्लेषेण व्याख्येयम्। नन्वाद्यफलाभावे दातृत्वं कुतो नास्तीत्याकाङ्क्षायामाहुर्विवरणे तदा सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति। व्यसनपर्यन्तं स्वतन्त्रेच्छत्वेन प्रेमावस्थानामाविर्भाव्यत्वाभावात् पूर्णप्रेमाविर्भावाभावाद्रसरूपताभावात्सेवाया आधिदैविकत्वाभावादिति हेतोर्दातृत्वं नास्ति, यत आधिदैविकसेवयैवाधिदैविकस्वरूपप्राप्ति''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह''मिति वाक्यादित्यवेहि। रसरूपस्यैवादिदैविकत्वे 'रसो वै स' इतिश्रुतिस्थपरमकाष्ठापन्नब्रह्मस्वरूपनिश्चयवाचकवैइत्यव्ययशब्दः प्रमाणं परमकाष्ठापन्नस्यैव पर्यन्ततः सर्वाधिदैविकत्वात्। एवं चाद्यफले जाते फलं शीघ्रं भविष्यति तदभावे भगवदिच्छाभावेन कस्यचिद्विलम्बेन भविष्यतीत्याद्यफलोत्पत्त्यनुत्पत्तिरूपलिङ्गाभ्यां शुद्धपुष्टिमार्गीयस्यापि भक्तस्य शीघ्रफलोत्पत्त्यनुत्पत्ती ज्ञेये इति दिक्। अथ उद्वेगाभावप्रतिबन्धाभावभोगाभावानां बाधकाभावत्वेन पूर्वं कारणत्वमुक्तम्। तत्र सर्वस्यापि भगवल्लीलात्वेन ज्ञानादुद्वेगाभावः सिद्धस्तत्र न गृहत्यागः। सेवाप्रतिबन्धका सुरपुत्रादेस्त्यागात्प्रतिबन्धाभावसिद्धेश्च तत्र पाक्षिको गृहत्यागः। दैवपुत्रादिषु सत्सु गृहत्यागाभावात्। भोगाभावस्तु लौकिकभोगत्वावच्छेदकावच्छिन्नाभावः। स तु लौकिक गृहत्वावच्छेदकावच्छिन्नत्यागेनैवेत्याहुः।

तृतीये बाधकं गृहम्।

तृतीये बाधकाभावत्वेन कारणे लौकिकभोगाभावे लौकिकं गृहं बाधकम्। तादृशगृहे सति तादृशभोगाभावाभावात्, सर्वेन्द्रियाणां लोकवेदसमोचेनापि स्वस्वविषये प्रवृत्तिसम्भवादिति भावः। एतद्विवरणे इदमेवाहुः **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग** इति। अत्र **पर्यु**पसर्गो वेश्मस्त्रीतत्रस्थपुत्रादिवाचको ज्ञेयः। अन्योर्थ स्पष्टः।

ननु एतादृशसेवनातिदुर्लभेत्याशमायामाहु**रवश्येयं सदा भाव्येति।**

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।।६ ।।

अत्र विवरणाभावादस्माभिरेव व्याख्यायते। **इयम**व्यवहितक्षण एवोक्ता बुद्धिस्था मानसी सेवना 'न रोधयती'त्यादिवाक्येभ्यः कस्यापि कर्मज्ञानादेरवश्याधीना यद्यपि

न भवति, व्रजभक्तरूपसाधुकृपामात्राधीनत्वात्, तथापि श्रीप्रभुव्रजभक्तदास्यपूर्वकं भाव्याचिन्तनीया। एतादृशीं सेवनां कदास्मत्प्रभुरस्मत्स्वामिन्योस्मभ्यं दास्यन्ति, कदा भगवति चक्षूरागः, कदा वा चित्तासङ्गः, कदा वा ''भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च। आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः। अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा। तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः। तदन्तिकगतिर्नित्य''मित्यादिः समल्पः कदा निद्राछेदः कदा तनुतनुता, कदा विषयनिवृत्तिः, कदा त्रपानाशः, कदोन्मादमूर्छामृतय इत्याद्युक्तप्रकारेण **सदा** देहपातपर्यन्तं **भाव्या,** भावनया मनसि स्थापनीया। अतिदीनतया ज्ञानविषयत्वमापदनीयेति यावत्। यद्वा इयं मानसी सेवा सदा **भाव्या,** प्रेमाद्यभावेपि प्रेमाद्यवस्थाद्यनुकरणकरणेन च चिन्तनीया। तथा च मनस्येतादृशभावनापूर्वकं तनुजवित्तजसेवाकरणे ''तं यथा यथोपासते तथैव भवती''ति श्रुते''र्ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह''मिति गीतास्थभगवद्वाक्यादथ च ''यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी''त्यादिवचनाच्चैतद्देहपातोत्तरमलौकिकदेहप्राप्तौ वा कस्यचित्कस्य चित्तु जन्मान्तरे वा बहुतरभगवत्कृपायामस्मिन् जन्मन्यपि वा 'तानाविद'न्नित्याद्युक्तप्रकारा फलरूपा सेवना सिद्धा भविष्यतीति भावः। अथवा इयं रसरूपा प्रेमासक्तिव्यसनात्मिका **सेवा सदा सर्वदा अः भगवान्** वश्यो यस्यां सा भाव्या ज्ञेया। एतादृशज्ञानेनापि फलसिद्धिरित्यर्थः। तथा चान्यप्रकारकसेवायां न सर्वदा भगवान् वश्यो भवति, न वा तज्ज्ञानमात्रेण च फलसिद्धिरिति भावः। ननु ज्ञानादिमार्गप्रकारेणापि सेवा प्रभुं स्ववशे करिष्यति प्रभुसेवात्वाविशेषादित्याशङ्क्ययाहुः सर्वमन्यन्मनोभ्रम इति। अन्यत् सर्वं मनोभ्रमरूपमेव। तथा च भगवन्मायामोहितानामेवायं सिद्धान्तो यदन्यत्रापि मार्गे प्रभुर्वश्यो भवतीति। अत एवास्मिन्मार्गे मार्गान्तराच्छ्रैष्ठ्यम्। अत एव च ''मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग''मिति वचनं चेति दिक्।।६।।

एवं मानससेवाभावनाया माहात्म्यमुक्त्वा पूर्वोक्तसेवाबाधकत्यागस्या वश्यकतामाहुः **तदीयैरपि तत्कार्यमि**ति।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

बालबोधग्रन्थे ''समर्पणादात्मनो हि तदीयत्वं भवेद्ध्रुव''मित्युक्तत्वा''देवं धर्मैर्मनुष्याणा''मित्यादिभगवद्वाक्याच्च **पुष्टौ** पुष्टिमार्गे **तदीयैरपि** आत्मसमर्पणं कृतवद्भिरपि तत् पूर्वोक्तं बाधकत्रितयत्यागरूपं यत् तत् कार्यं कर्तव्यम्, न तु मयात्मसमर्पणं कृतं तदीयं च सर्वं जातमतः परं प्रभुर्यथा ज्ञास्यति तथा करिष्यति

मम का चिन्तेति निश्चिन्ततया स्थेयम्। तथा सति भगवति भरदाने पुष्टिमार्गस्य प्रेमात्मकत्वात् प्रेममार्ग विरोध आपद्येत। सर्वथा स्वाशक्येर्थे हि भगवति भरदानम्, न तु स्वशक्येपि, स्वशक्येर्थेपि तत्र भरदाने स्वामिन्यादीनां स्वप्राणप्रियस्यायासदर्शनेन महान् खेद उत्पद्येत, तेन तदधीनत्वात्फलस्य तत्फलदाने भगवतो विलम्बस्तत्खेददानजनितः स्वामिनीष्वापद्येतेति। अत एवाग्रे आहुः **पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति**। **पुष्टा**विति देहलीदीपन्यायेनात्रापि सम्बध्यते। अन्यमार्गस्थस्तु कृतात्मसमर्पणो विक्रीतपश्वादिवत् स्वदेहभरणपोषणादिचिन्तारहितो विलम्बं कुर्यादपि, **पुष्टौ** शुद्धपुष्टिमार्गे तु तन्मार्गस्थो **नैव विलम्बयेन्न** विलम्बं कुर्याद्बाधकत्रयापनोद इत्यर्थः। यद्वा स्वयमेवात्मसमर्पिणा बाधकत्रयापनोदे कृते स्वप्राणप्रियस्यायासादर्शनात् स्वामिन्यादीनां खेदाभावात् तदधीनफलदाने प्रभुर्न विलम्बयेन्न विलम्बं कुर्यादिति वार्थः। अत एव ''मदर्थेर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य चे''त्येकादशस्कन्धीयं प्रभुवचनमात्मसमर्पिणो भोगादित्यागमुपदिशति, न तु स्वस्मिन् भरदानेन निश्चिन्ततयावस्थानम्। अन्यथा तासां खेदे सति तनुजवित्तजसेवायाः प्रतिबन्धे जाते सति फलरूपसेवाप्राप्त्याशा दूरापास्ता। तथा च यत्र तनुजवित्तजसेवायामपि बाधकं त्यक्तव्यं जातं तत्र फलरूपसेवासिद्धौ सत्यां प्रभ्वायासस्फुरणशद्विलम्बं न कुर्यादेवेत्यर्थः। अत्रैतावज्ज्ञेयम्। साधनरूपसेवायां ''प्रतिकूले गृहं त्यजे''दित्युपदेशे भजनप्रतिबन्धकगृहस्यैव त्यागो, न भजनानुकूलगृहस्य। फलरूपसेवायां तु भजनानुकूलस्यापि गृहस्य त्याग इति। एतद्यथा तथा **मत्कृतभक्तिवर्धिनीटीकायां** ''तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशक''मितिश्लोके द्रष्टव्यम्।।६।।

अथ तनुजवित्तजसेवया प्राप्तमानससेवस्य व्यसने जाते दशावस्थासु महादुःखानुभवादतितापेन कदाचिदतिनिष्ठुरः प्रियो यदेतावत्पर्यन्तमपि न मिलति, मया त्वेतावद्दुःखमनुभूयते तदर्थमित्यादिको दोषारोपो भगवति भगवदीयस्य स्यात् सोपि बाधक एवेत्याहुः **गुणक्षोभेपीति।**

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः।।७।।

गुणैः रसावस्थारूपैर्निद्राछेदादिभिर्मनःक्षोभेपि प्रियदोषारोपेपि एतदेव भगवदप्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वमेव द्रष्टव्यं दोषारोपस्य। तथा च तादृशावस्थायामपि प्रिये दोषारोपो न कर्तव्यः। यतः प्रियस्य निर्दोषपूर्णगुणवत्त्वात्तत्र दोषारोपे स्वामिन्यादीनां रोषे फलप्राप्तिविलम्बः स्यात्। किन्तु धन्योहं यत्प्रियार्थमेतादृशावस्थामनु

भवामीतिगुणारोप एव कर्तव्य इति भावः। इदं त्रपानाशावस्थापर्यन्तमेव कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते। उन्मादावस्थाप्रादुर्भावे तु देहानुसन्धानाभावान्न तत्र दोषो

दोषारोपेपीति ज्ञेयम्। अत एवोद्धवद्वारा व्रजसीमन्तिनीनां ज्ञानोपदेशो दोषाभावार्थमेव कृतः प्रभुणा।।७।।

नन्विदं सर्वं प्राकृततुल्यमेवेति किमेतादृशावस्थाप्राप्त्याप्युत्कर्ष इत्याशङ्क्ययाहुः।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः।। ७।। ।।

अत्र **या काचित् कुसृष्टिरुत्पद्येत** सा **भ्रमो** ज्ञेयः। यतो 'रसो वै स' इति श्रुते रसरूपो भगवान् सिद्धस्तदा सर्वा अपि रसावस्था भगवद्रूपा एव, रसस्य विभावानुभावव्यभिचारिभावसमूहालम्बनरूपत्वादिति सिद्धः सर्वोत्कर्षोस्य मार्गस्यास्य फलस्य चेति सर्वं चतुरस्रम्।। ७।। ।।

अत्र केचिदस्मच्छ्रीमदाचार्यमार्गीया भगवदीया **यादृशी सेवेने**ति मूले **सेवायां फलत्रयमिति** तद्विवरणे च पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदभिन्नमार्गसम्बन्धित्रिविधसेवानां क्रमेण फलत्रयमुक्तमिति व्याचक्षते। तच्चिक्त्यम्। एवं सति मूले **यादृशी सेवनेत्यत्र** तद्विवरणे च सेवायामित्यत्र चैकवचनं श्रीमदाचार्यैर्न दत्तं स्यात्। मूले कदाचिच्छन्दोनुरोधेनैकवचनदानेपि विवरणे सेवासु फलत्रयमिति बहुवचनमेवोक्तं स्यात्, विवरणस्य मूलाभिप्रायप्रकटनार्थमेव क्रियमाणत्वात्। अतो मूलविवरणयोरेकवचनदानान्यथानुपपत्त्या तत्रत्यैकवचनाभ्यां शुद्धपुष्टिमार्गसेवाफलमात्र निरूपणमेवात्र श्रीमदाचार्यचरणानामभिप्रेतं स्वीयमात्रेभ्यो ज्ञापनार्थमिति ज्ञायत इति सारम्। अन्ये त्वेतन्मार्गीया भगवदीया मूलविवरणोक्तैकवचनानुरोधेन शुद्धपुष्टिसेवाफलत्रयमेवात्र श्रीमदाचार्याणामभिप्रेतमधिकारभेदेनोत्तमत्व मध्यमत्वसाधारणत्वभेदभिन्नम्। तत्रोत्तमं फलमलौकिक सामर्थ्यम् तत्तु सेवायां क्रियमाणायामेव प्रभुसम्पादितालौकिकशरीरनिष्ठस्वरूपानुभवसामर्थ्यं प्रमाणाननुरोधिप्रमेयसाध्यम्, यथा रासमण्डलमण्डनायमानानाम्, मध्यमं फलं तु सायुज्यम्। तत्तु सह युनक्तीति सहयुक्, सेवायां क्रियमाणायामेव भगवता सह सतत स्थितिः सार्वदिकसंयोगरसानुभव इति यावत्। तथा च भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण

---

१ इतःपरं ''इति श्रीवल्लभतनुजवरविट्ठलनाथाङ्घ्रिरेणुलवबलतः। जयगोपालः कृतवान्'' इति प्रथमं लिखितं, हरितालेन पश्चाल्लोपितम्। अतःपरं विद्यमानष्टीकाभागः पाश्चात्यः, ग्रन्थकृता स्वयमेव निर्मितः, स्वहस्ताक्षरैर्लिखितश्चेति प्रतिभाति। एतत्प्रयोजनं तु परमतदूषणेन स्वमतदृढीकरणम्।

युगपदखिलपुण्यपापक्षयद्वारा पाञ्चभौतिकं देहं निवर्त्यालौकिकं दत्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो निष्कास्य प्रभुकारितस्वलीलानुभवरूपं प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्यम्, यथा लक्ष्म्या अन्तर्गृहगतगोपिकानां वा। अत्र मध्यमत्वं चास्य फलस्य विप्रयोगरसानुभवाभावाज्ज्ञेयम्। साधारणफलं तु सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु। तत्तु सेवायां क्रियमाणायामेवानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात्सेवानुपयोगेन्यैस्तादृश साक्षाद्रसानुभवकर्तृभिः क्रियमाणायाः सेवाया उप समीपे योगः सम्बन्धस्तद्वच्छरीरप्राप्तिस्तद्रूपम्, यथा वृन्दावनस्थपक्ष्यादीनाम्। तस्य चान्तररमणानुकूलत्वात्फलत्वम्, बहिःसाक्षात्सम्बन्धाभावादधिकाररूपत्वं च ज्ञेयमिति वदन्ति। तत्रान्तर्गृहगतानां मध्यमं फलमिति त्वस्मदाचार्यचरणसिद्धान्तविरुद्धम्। तथा हि। यद्यस्मदाचार्याणामेवमेवाभिप्रायः स्यात्तदा कुत्रापि दशमस्कन्धसुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैस्तट्टिप्पण्यां च तत्तनुजवरैः स्फुटीकृतः स्यात्। न ''चान्तर्गृहगताः काश्चि''दित्यस्याभासे ''यासां कालः प्रतिबन्धकः, पूर्वमेव भक्तियुक्तास्ता भजनानन्दमननुभूयैव प्रतिबद्धा एव भगवत्सायुज्यं प्राप्तवत्य इत्याहे''त्यत्रत्यसायुज्यपदेन, पुनरेतस्यैव पदस्य व्याख्यानान्ते ''ततो मुक्ता जाता'' इत्यारभ्य ''तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गता'' इति पद्यव्याख्यानान्तप्रयुक्तैर्मुक्तापदैश्च मुख्यफलापेक्षया मुक्तिरूपफलस्यैव प्राप्तिकथनेनायमेवाभिप्रायः स्फुटीकृतः श्रीमदाचार्यचरणैरिति वाच्यम्। अत्रत्यसायुज्यपदमुक्तापदानां परोक्षवादरूपत्वमिति सायुज्यपदस्य भगवत्सहभावपरत्वेन मुक्तापदानां ''जहुर्गुणमयं देह''मित्यत्रोक्तगुणमयदेहत्यागोत्तरप्राप्तगुणातीतसङ्घातनिष्ठ भगवद्रसानन्दानुभवविशिष्टत्वपरत्वेन च प्रयुक्तत्वात्। न च पूर्वोक्तानां पदानां परोक्षवादत्वे प्रमाणाभावः। ''लक्षणां नैव वक्ष्यामि न न्यूनादन्यपूरणम्। आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनादृत'' इति प्रथमस्कन्धीयसुबोधिनीप्रारम्भप्रघट्टकपद्यस्थ'परोक्षकथनादृत' इति श्रीमदाचार्यप्रतिज्ञाया एव प्रमाणत्वात्। अस्यार्थः। अहं श्रीभागवते कुत्रापि लक्षणां नैव वक्ष्यामि, न कथयिष्यामि। लक्षणा हि मुख्यार्थबाधे भवति, तत्रात्र प्रतिपाद्यस्य भगवतः सर्वशक्तिमत्त्वेन सर्वभवनसमर्थत्वेन मुख्यार्थबाधाभावात्। ''पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि युक्तिभि''रिति गौतमस्मृतिवचनेन पुराणेषु लक्षणावृत्त्याश्रयणस्य निषिद्धत्वाच्च। अथ च न्यूनात्पुराणान्तरकथया न्यूनत्वं प्राप्य भावप्रधानो निर्देशो, ल्यब्लोपे पञ्चमी। यद्वा न्यूनात्पुराणान्तरकथया न्यूनाक्न्यूनं प्रमेयं प्राप्यान्यपूरणमन्येन पुराणान्तरेण

पुराणान्तरकथयेति यावत्तेन पूरणं श्रीभागवतस्य भगवदीयान्तरकृतश्रीभागवतव्याख्यान इव न वक्ष्यामि। यदि सा कथैतत्कल्पीया स्यात् तदा व्यासचरणैरेव निबद्धा स्यादतो न वक्ष्यामीति भावः। केचित्तु न्यूनाच्छब्दादर्थाच्चान्यस्य तस्य पूरणं नेत्यर्थः, अध्याहारं शब्दस्य वार्थस्य वा न करिष्यामीत्याहुः। तत्र 'जन्माद्यस्ये'ति प्रथमस्कन्धीयाद्यश्लोक एव 'धीमहि' इति तिङ्वाच्यकारकवाचिनोस्मच्छब्दस्य चाध्याहारदर्शनात् सोक्तिश्चिक्त्या, किन्त्वार्थिकं वाच्यार्थसिद्धमेवार्थं प्रवक्ष्यामि प्रकृष्टत्वेन वक्ष्यामि। अगोप्यत्वादिति भावः। परन्तु परोक्षकथनादृते परोक्षकथनमप्रत्यक्षकथनं वाचकशब्देतरशब्देन कथनं गोप्यकथनमिति यावत् तद्विहायेत्यर्थः। तथा च परोक्षकथनेनानधिकारिभ्यो गोपनार्थं लक्षणां लक्षणावृत्तिविशिष्टशब्दानथ च न्यूनं प्रमेयं प्राप्यान्येन पुराणान्तरेण पूरणं च वक्ष्यामि परन्तु तात्पर्यग्राहकलिङ्गादिसिद्धमेव, न तु तदसिद्धमपीत्येतावदधिकं बोध्यम्। तथैव सुबोधिन्यां दृश्यमानत्वात्। तादृक्कथायाः कल्पान्तरीयत्वात्। एतत्कल्पीयत्वे तु ''गोप्यः संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक्। न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत'' ''इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिका'' इत्यादिमन्त्रदृष्ट्त्वादिरूपलिङ्गं कुमारिकानामग्निकुमारत्वे अथ च ''तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गता'' इत्यत्रत्यजारबुद्धिरूपं लिङ्गमन्तर्गृहगतानां ''जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकं। मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे''ति बृहद्वामनोक्तभगवद्वरदानविशिष्टश्रुतित्वे च यथोक्तं तथोक्तमेव स्यादतो ज्ञायते तन्नैतत्कल्पीयमिति तादृशपुराणान्तरकथया पूरणं न करिष्यामीति ज्ञेयम्। अथ च परोक्षकथने वाच्यार्थसिद्धमेवार्थं न प्रकृष्टत्वेन वक्ष्यामि किन्तु गोप्यत्वात् प्रकटतया न कथितमीदृशं तात्पर्यवृत्त्या सिद्धमप्यर्थं वक्ष्यामीति भावो ज्ञेयः। एवञ्च फलप्रकरणीयलीलायामतिगोप्यत्वादुपक्रमे फलप्रकरणीयसुबोधिनीस्थसायुज्य मुक्तापदा'न्युक्तं पुरस्ता'दित्यारभ्य 'यत एतद्विमुच्यत' इत्यन्तं मध्ये प्रयुक्तानि मुक्तिमुच्यतइत्यादिपदानि, अथ च रासलीलोपसंहारे च ''ब्रह्मरात्र उपावृत्त'' इतिपद्यव्याख्याने ''यतो भगवान् मोक्षदाता ताश्चेदासक्ध्यमन्तःस्मरणं करिष्यन्ति तदा मोक्षाधिकारिण्यो भविष्यन्तीति वासुदेवानुमोदिता'' इत्यत्रत्यमोक्षपदं च न लोकप्रसिद्धलयरूपसायुज्यपरत्वेन लयरूपमुक्तिविशिष्टत्वपरत्वेन लयरूपमोक्षपरत्वेन च न प्रयुक्तानि, किन्तु परोक्षवादेन भगवत्सहस्थितिपरत्वेन गुणमयदेहत्यागोत्तरप्राप्तालौकिकदेहनिष्ठभगवद्रसा नुभवविशिष्टत्वपरत्वेन विप्रयोगोत्तरप्राप्तभगवद्दर्शनानन्दपरत्वेन च प्रयुक्तानीति ज्ञेयम्। पञ्चाध्यायीव्याख्यानस्थसायुज्यमुक्तामुक्तिमोक्षपदानि परोक्षवादरूपाणीति

ज्ञापयितुमेव पञ्चाध्यायीसमाप्तिश्लोकव्याख्यानीय श्रीमदाचार्यतनुजरत्नकृतफलप्रकरणीयसुबोधिनीटिप्पण्यां व्याख्यातं ''दिवा विप्रयोगजार्तौ सत्यां दिनान्ते प्रियसङ्गमे य आनन्दो, न स सर्वदा दर्शन इति सोत्र मोक्षपदेनोच्यत'' इति मोक्षपदस्य तादृगानन्दपरत्वमेव। एवञ्च सायुज्यमुक्तामुक्तिमोक्षपदानां परोक्षवादत्वं सिद्धम्। अन्यथा ''न चैवं विस्मय'' इति पद्यव्याख्याने ''एतत्परिदृश्यमानं जगत् सर्वमेव यतो विमुक्तिं यास्यति, भावनया गोकुले स्थित आह, ज्ञानदृष्ट्या वे''त्यत्र विमुक्तिपदस्योपसंहारश्लोक व्याख्याने श्रीमदाचार्यचरणैर्मोक्षपदस्य चोक्तत्वाद्रासमण्डलमण्डनायमानानां च लोकप्रसिद्धमोक्षप्राप्तिर्विंशाध्याये यज्ञपत्नीप्रसङ्गीये''तत्रैका विधृता भर्त्रे''तिपद्यव्याख्यानसुबोधिन्या''मतस्तस्या मुक्तिः सिद्धे''त्युक्त्वाद्विप्रभार्याया अपि मोक्षप्राप्तिरङ्गीक्रियताम्। तस्मात् परोक्षवादरूपाण्येवात्र सायुज्यादिपदानीति न लोकप्रसिद्धमोक्षरूपमध्यमफल प्राप्तिरन्तर्गृहगतानामिति बोध्यम्।

ननु मुक्तिवाचकपदैरेवात्रपरोक्षवादकरणे किं बीजमिति चेत् ? श्रीभागवतमेव बीजमिति गृहाण। तथाहि। ''न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यज'' इतिपद्येग्रे ''यत एतद्विमुच्यत'' इतिपदमुच्यते, तेन च सर्वस्यापि गोकुलस्य मुक्तिः प्रतिपाद्यते, न हि भवतापि सर्वस्य गोकुलस्य मुक्तिरङ्गीक्रियते लोकप्रसिद्धा। एवं च विमुच्यतइतिपदं परोक्षवादरूपमेव। तथा सति श्रीव्यासचरणैरत्र प्रकरणे मुक्तिवाचकपदेनैव परोक्षवादः कृत इति श्रीमदाचार्यैरपि मुक्तिवाचकपदैरेव परोक्षवादः कृत इति सुष्ठूक्तं श्रीभागवतमेव बीजमिति। ननु न वयमेवंरूपं मध्यमं फलं तासां वदामः, किन्तु प्रकारान्तरेण मध्यमफलं वदामः। तत्तु भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपदखिलपापपुण्यक्षयद्वारा पाञ्चभौतिकं देहं निवर्त्य तदनन्तरं चालौकिकदेहं दत्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो निष्कास्य प्रभुः संयोगरसलीलानुभवमेव कारयति, न तु विप्रयोगरसलीलानुभवम्, एवं च रसरूपभगवत एकदलानुभवरूपं फलं मध्यममेव, द्वितीयदलानुभवाभावात्। मुख्यानां तु दलद्वयानुभवस्यापि जायमानत्वान्मुख्यं फलमिति चेत्, अत्र पृच्छामः। अलौकिकदेहप्राप्त्यनन्तरं भगवत्कृता स्वस्मिन् स्थितिस्तासां केन रूपेण, सार्वदिकलयरूपेण वा, रस व्यभिचारिभावलयरूपेण वा, ''सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनानुभवात् तत'' इति श्रीमदाचार्यसिद्धान्तितभेदविशिष्टसायुज्यरूपेण वा, सर्वदा कण्ठलग्नत्वेन वा, ''चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे, कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यज'' इत्यत्रोक्तानां स्वाङ्गीकृतात्मनां तत्त्वरूपकण्ठस्थितकौस्तुभे लयरूपेण वा, लक्ष्मीवद्वक्षःस्थलस्थितिरूपेण वा, शिवोमावदर्धनारीश्वररूपेण वा,

पूतनासुपानसमानीतभगवदुदरस्थितपूतनाभक्षिताग्निकुमाररूपकुमारीपुंस्त्वधर्मरूपबालकवद्वा। तत्र नाद्यः। पुरुषोत्तमे सार्वदिकलयरूपेण स्थितिस्तु केवलजीवात्मनामेव, सा त्वेतासामसम्भावितैवालौकिकदेहप्राप्तिप्रविष्टत्वात्, न हि शरीरविशिष्टानां लयः कुत्रापि वेदादौ श्रुतोस्ति। पुरुषोत्तमे लयस्य पुरुषोत्तमविषयकमर्यादाभक्तिफलत्वाच्च। भवद्भिस्त्वेतासां शुद्धपुष्टिमार्गीयमध्यमफलविशिष्टत्वं सिद्धान्तितमस्ति। न द्वितीयः। एतादृशलयस्यास्माभिरप्यत्राङ्गीक्रियमाणत्वात्। न च तर्हि मध्यमफलप्रसक्तिः। एतादृशलयस्य रासमण्डलमण्डनायमानास्वप्यसावहमित्यादौ दृष्टत्वेन तत्समकक्षत्वान्मध्यमफलत्वाभावात्। न तृतीयः। तादृशसायुज्यस्य मर्यादापुष्टिफलत्वात्। न चतुर्थः। सर्वदा कण्ठलग्नत्वेन स्थिते रसाभासरूपत्वात्। न पञ्चमः। देहविशिष्टत्वेन तत्रापि लयासम्भवात्। न षष्ठसप्तमौ। तत्र प्रमाणाभावात्। शिवोमयोरर्धनारीश्वररूपेण स्थितौ च निखिलपुराणेतिहासादीनां प्रमाणत्वान्न तथात्र प्रमाणमस्ति। न चार्धनारीश्वरवदेतासां स्थितौ ''त्वर्धं शोणमथार्धमम्बुदनिभं बद्धं ललाटे स्रजा बर्हाकल्पतया विलाससदनं स्त्रीपुंमयं वाययम्। हस्तैर्वेणुवराभयानि दधतं लावण्यवारांनिधिम्। ध्यायामि स्मितशोभितास्यकमलं गोपालचूडामणि''मितिसुन्दरीगोपालमन्त्रसम्बन्धिध्यानप्रतिपादकागम एव प्रमाणमिति वाच्यम्। ''अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी''ति श्रुतौ यज्ञसम्बन्धयुक्तायाः स्वविवाहिताया एवार्धत्वमुक्तमिति लक्ष्म्या एवार्धनारीत्वेन स्थितिरागमेन प्रतिपाद्यते न त्वेतासाम्, स्वविवाहितत्वाभावेन पत्नीत्वाभावादित्यस्या अपि भवदुक्तेरनवकाशात्। नाप्यष्टमः। तेषामपि केवलजीवरूपाणामेव स्वोदरे पूतनया समानयनम्, न तु बालकदेहसहितानाम्, तदनन्तरं भगवतापि तदसुपानद्वारा तादृशानामेव स्वोदरे समानयनम्, पश्चाद्वयस्यैरागतस्तत्रेत्यत्र व्रतचर्याप्रसङ्गे त्वलौकिकदेहं दत्वा तल्लीलाप्रदर्शनं कारितवानिति निश्चयस्य दृढतरत्वेनास्यापि दृष्टान्तत्वाभावात्। शरीरविशिष्टानामेव तेषां स्वोदरानयनमित्यस्य कण्ठरवेणाश्रूयमाणत्वात्, प्रत्युत षष्ठदशमस्कन्धीयाध्यायसुबोधिन्यां ''तया स्वस्मिन्नानीता ये बालकानां जीवास्ते स्वजीवमर्मस्थाने स्थापिताः सन्तीति तान् स्वस्मिन्नानेतुं भगवांस्तन्निष्पीडनमेव कृतवानित्यभिप्रेतोर्थ'' इत्यनेन केवलजीवानामेवानयनस्य श्रीमदाचार्यैरुक्तत्वाच्च। न च लालनमृद्भक्षणलीलाप्रदर्शितस्वमुखस्थसर्वव्रजे भगवति देहसहितानामपि स्थितिरस्त्येव, एवं चालौकिकदेहसहितानामप्येतासां स्थितिर्नासम्भावितेति वाच्यम्। स्वमुखारविन्दप्रदर्शितसर्वव्रजे रासमण्डलमण्डनायमानानामपि स्थितत्वात् तासामपि मध्यमफलप्राप्तेर्वक्तुं शक्यत्वादिति न किञ्चिदेतत्। अथ यद्यपि भगवतोऽचिन्त्यशक्तित्वात् केनापि प्रकारेणैतासां भगवति स्थितिः सम्भवेदपि,

तथापि यद्येतासां मध्यमफलं स्यात् तदाऽचिन्त्यशक्तिमत्त्वपर्यन्तं धावना समञ्जसा स्यात्, तदेव तु खपुष्पायमाणम्, यत एतासां सगुणदेहत्यागोत्तरं निर्गुणदेहप्राप्त्यनन्तरं तु सर्वभावप्रपत्तिरूपसाधनस्य सर्वभावप्रपत्तिलभ्यस्यैव च फलस्य प्राप्तिः श्रीमदाचार्यैः सिद्धान्तितास्ति। तथाहि ''कृष्णं विदुः परं कान्त''मितिपञ्चश्लोकीसुबोधिन्यां प्रथमव्याख्यानाभिप्रायविशदीकारकद्वितीयव्याख्याने ''उक्तं पुरस्ता''दितिपद्यव्याख्यायां ''यथा भगवति गुणातीत एव परिनिष्ठबुद्धित्वेपि द्वेषस्य तत्र प्रयोजकत्वात् सगुणत्वमेवेति लक्ष्यते, अयं च रसः सर्वभावप्रपत्तिलभ्यः। नहि जारत्वबुद्धौ सर्वभावप्रपत्तिः। कामपूरकत्वेनैव तत्सम्भवात्, अत्र च सगुणत्वस्य प्रतिबन्धकत्वाद्यथा चैद्यादीनां स्वाधिकारानुसारेण तादृशशरीरनाशे तत्पदप्राप्तिः स्वाधिकारानुसारेण, तथैतासामपि स्वाधिकारानुसारेण तथात्वं सगुणत्वोपरमेण सर्वभावप्रपत्त्यैव, ततो निजपतिभजनमिति सर्वमवदातम्, अन्यथा ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह''मिति मर्यादा भज्येते''त्युक्त्या, अथ च ननु तथापि तादृशप्रपत्तेरेव मूलत्वात् कथं सर्वभावप्रपत्तिसाध्यं फलं भविष्यतीत्याभासं दत्वा 'द्विषन्नपी'त्यादिप्रतीकव्याख्याने ''मोक्षसुखानभीप्सुस्तद्विरुद्धद्वेषकर्ता च चैद्यस्तस्मै यथा ज्ञानिनामपि दुर्लभां मुक्तिं दत्तवानेवं तादृक्प्रपत्तिमूलानामप्येतासां तादृशं फलं दत्तवा''नित्ययुक्त्या, तदनु किञ्चाग्रे ''यदि सर्वभावप्रपत्तिलभ्यफलमेव दित्सितं भगवतस्तदा पूर्वमेव स एव भावः किमिति नोत्पादित इति चे''दिति पूर्वपक्षीकृत्य ''अत्र वदामो, यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासां सर्वासामेव रासमण्डलमण्डनायमानानां शरीरमपि गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कतिपयगोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा पूर्वोक्तानां भावोपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणभावमुत्पाद्यैतन्निवर्तकोपि स्वयमेव नान्य इति ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधायाग्रे भाविस्वविरहजदुःखस्वसङ्गमजसुखयोः कर्माजन्यत्वमपि ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय मत्स्वाम्येव सर्वं कृतवा''नित्युक्त्या च सर्वभावप्रपत्तिरूपं साधनं सर्वभावप्रपत्तिलभ्यमेव च फलमेतासामिति दृढीकृतं श्रीमदाचार्यचरणैरिति तद्विरुद्धा भवद्व्याख्यानपद्धतिर्नादरपदवीमारोहति। तस्मान्नान्तर्गृहगतानां सर्वदा संयोगरसानुभवमात्ररूपं मध्यमं फलम्, किन्तु पूर्णसंयोगविप्रयोगरसात्मकमुत्तमफलमेव। उचितं चैवमेव यत्सर्वभावप्रपत्तिर्नाम सर्वांशेन प्रपत्तिः तस्यां सत्यां सर्वांशेनैव प्रभुणा फलदानं कर्तव्यम्, न तु केनाप्यंशेन न्यूनफलदानं सम्भवति, ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह''मितिमर्यादा यतोस्तीति दिक्।

अपरञ्च। ''या मया क्रीडता रात्र्यां वनेस्मिन् व्रज आस्थिताः। अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तये''तिभ्रमरगीतस्थपद्यव्याख्याने ''भवत्यः समागता

अन्तर्गृहगतास्तु गृह एव स्थितास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न त भवत्योनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्य'' इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम्। तत्र सर्वप्रकारेण भगवत्प्राप्तिरन्तर्गृहगतानां न तु केनाप्यंशेन न्यूनप्रकारेणेत्युक्तत्वात् सार्वदिकसंयोगरसमात्रानुभव एवैतासामिति भवदुक्तिः कथं सङ्गच्छताम्। भगवतो रसरूपत्वाद्रसस्य द्विदलत्वाद्भवन्मते विप्रयोगप्रकारेण प्राप्त्यभावादिति कृतं पल्लवितेन। अत्र तदैवेतिपदमेव न तु भवत्य इत्यत्रापि सम्बध्यते। तथा च तदैव तत्क्षण एव तासां मत्प्राप्तिः सर्वप्रकारेण जाता। भवतीनां तु तत्क्षण एव न जाता क्रमेणैव मद्विषयकदोषारोपरूपदोषनिवृत्तौ सत्यां भविष्यति, तासां तु मयि दोषारोपो नासीदिति निर्दोषत्वात्तदैव जाता। अन्यथा तदैवेति पदस्यात्रानुषङ्गाभावे तासां सर्वप्रकारेण मत्प्राप्तिर्भवतीनां सर्वप्रकारेण न जातेत्येवमर्थे सम्पन्नेन्तर्गृहगतानामेव रासमण्डलमण्डनायमानाभ्योधिकत्वमापद्येत। तदैवेतिपदस्य त्वत्रानुषञ्जने तासां तदैव जाता, भवतीनां तु दोषनिवृत्तौ क्रमेण भविष्यतीति न न्यूनता फले प्राप्नोतीति ज्ञेयम्। ननु साधारणानामपि भक्तानां दोषान् भगवान्न गणयति, रासमण्डलमण्डनायमाना''स्त्वेताः परं तनुभृतो ननु गोपवध्वः'' ''आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्'' ''वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णश'' इत्यादिप्रकारेण श्रीमदुद्धवैः स्तुतानां प्रणतपादरेणूनामथ च तद्दोषस्य विप्रयोगरसावस्थारूपत्वेन निर्दोषाणां च तादृशं भावं दोषत्वेन किमर्थं भगवानगणयदिति चेत्। अत्र वदामः। केषाञ्चिदतिकृपाविषयाणां जीवानां शुद्धपुष्टिमार्गफलं दित्सुर्भगवान् प्रपञ्चे लीलासहित आविर्भवति। अन्यथा सर्वभावप्रपत्तिरूपसाधनस्य सर्वभावप्रपत्तिलभ्यफलस्य चाज्ञायमानत्वात् कथमेतन्मार्गप्रवृत्तिहेतुभूतफलज्ञानं स्यात्, कथं वा एतन्मार्गीयं साधनं च ज्ञातं स्यात्। तत्रैतन्मार्गीयं फलं तु व्रजभक्तसजातीयभावेन भजने भवतीति तद्भावानुसारेण भजने क्रियमाणे भगवत्ताज्ञानेपि तासां दोषारोपो न बाधको जातः, एवं ममापि न भविष्यतीति कदाचिच्छीघ्रं भगवता फलादाने तनुजवित्तजसेवाकरणसमय एव भगवति दोषारोपं कुर्याद्यन्मया त्वातावद्दुःखमनुभूयते सेवाकरणे, भगवांस्त्वतिनिष्ठुर एतावत्पर्यन्तमपि प्रेमासक्त्यादिकं नाविर्भावयति येन फलं स्यात्तदा भगवतो निर्दोषपूर्णगुणत्वेन तत्र दोषारोपे तस्य फलप्राप्तौ विलम्बः स्यादतो भगवति कस्यामप्यवस्थायां दोषारोपो न कर्तव्य इति ज्ञापयितुं यथान्तर्गृहगतानां जारभावोत्पादनेन रासमण्डलमण्डनायमानानामपि शरीरादि निर्गुणमिति ज्ञापयितुं तासां जारभावमुत्पादितवानेवमेव रासमण्डलमण्डनायमानानामपि तादृशरसावस्थारूपमपि दोषारोपरूपं भावं दोषत्वेनाख्यापयच्छ्रीमदुद्धवमुखेनेति सर्वं सुस्थम्।

तस्मादन्तर्गृहगतानामपि मुख्यमेव फलमिति सिद्धम्। अन्यच्च ''जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकं मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे''ति श्रुतीः प्रति भगवदुक्तेस्तद्भावज्ञापकजारबुद्ध्यापि सङ्गता इति फलप्रकरणीयवचनस्थजारबुद्धिसङ्गतत्वोक्त्या च श्रुतिरूपा एता अन्तर्गृहगता इति ज्ञायते। एवं च श्रुतिकृतस्तुतिसन्तुष्टप्रकृत्यतीताक्षरमध्यस्थेन श्रीवृन्दावनगोवर्धनयमुनानानारासरसोन्मत्तगोपीकदम्बकविशिष्टेन किशोराकृतिना भगवता किं करवाणीत्युक्ते ''कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः। कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयम्। यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षा जनिता तथे''त्यादिना श्रुतिभिः स्वस्य कामिनीभावपूर्वकः स्मरक्षोभ उक्तस्तत्र मा कदाचिद्भगवानेवं जानातु यदेतासां लौकिककामाभिलाष इति शमां वारयितुं यथा त्वल्लोकवास्तव्या गोपिकाः कामतत्त्वेन कामस्य तत्त्वं परमकाष्ठापन्नं रूपमाधिदैविकमिति यावत् तादृशकामाधिदैविकेन रूपेण रमणं रमणकर्तारं मत्वा त्वां भजन्ति तथा भजनेस्माकं चिकीर्षा जनितोत्पादिता त्वद्रूपदर्शनेनेति श्रुतिभिः प्रार्थितम्। तत्र भगवल्लोकस्थनित्यसिद्धगोपिकाभावसजातीयभावेन भजनचिकीर्षैतासाम्। तत्र भगवल्लोकस्थनित्यसिद्धगोपिकानां न भगवति जारभावः किन्तु सर्वभावप्रपत्तिरूपो भावः। एवं च यद्येतासां मध्यमं फलं भगवान् दद्यात् तदा ''ये यथा मां''मिति मर्यादा भज्येत। तस्मादपि न तासां मध्यमं फलं किन्तूत्तममेव। अग्रेपि ''दुर्लभो दुर्घटश्चैष युष्माकं सुमनोरथः। मयानुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हती''त्यत्र मनोरथस्य दुर्लभत्वं दुर्घटत्वं चोक्तम्, सुमनोरथ इत्यनेन मनोरथस्य सुष्ठुत्वं चोक्तम्। यदि जारभावेन भजन एव मनोरथः स्यात् तदा दुर्लभत्वं दुर्घटत्वं च नोक्तं स्यात्। कदाचित् तदानीं श्रुतीनां विवाहितपतेरभावात् स्वस्मिन् जारभावो दुर्घटोत एव दुर्लभश्चेति दुर्लभत्वदुर्घटत्वोक्तिः सङ्गच्छेतापि, परन्तु सुमनोरथ इत्यत्र मनोरथे सुष्ठुत्वं तु न सङ्गच्छेत, जारभावेन भजनमनोरथस्य दुष्टत्वेन सुष्ठुत्वाभावात्। तस्मात् सुमनोरथपदेनसर्वभावप्रपत्तिपूर्वकभगवल्लोकवास्तव्यगोपिकाभावसजातीयभाव मनोरथ एवोक्तोत्रेति निश्चितम्। अत एवाग्रे मयानुमोदित इत्यनेन पूर्वं मल्लोकवासिगोपीभिर्मोदितो अनु पश्चान्मया मोदितो अत एव सम्यक् समीचीनः सत्यो भवितुं योग्यो भवति। ममैतदधीनत्वादेतासां मोदनं विना न सत्यो भवितुं योग्यः स्यादिति भावः। अन्यथा तासां मोदनं नापेक्ष्येत, निकृष्टमनोरथस्य सत्त्वात्। एतदग्रे तु ''आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते। कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ। पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले। वृन्दावने भविष्यामि

प्रेयान्वो रासमण्डले, जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकम्। मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे''त्यनेन प्रघट्टकेनैताभिरप्रार्थितः किञ्चित्कार्यार्थं जारभावो भगवतैव दत्त इति प्रतीयते स्फुटमेव। तत्रायं भगवदभिप्रायः। मया त्वागामिविरिञ्चिदिनरूपसारस्वतकल्पे पृथिवीस्थभारतक्षेत्रस्थ माथुरमण्डलान्तर्गतवृन्दावने सर्वभावप्रपत्तिस्तत्फलं च प्रकटनीयं जीवविशेषोद्धारार्थम्। तत्र सर्वभावप्रपत्तिर्निर्गुणा, तद्भाववतां देहादिकं च निर्गुणम्, तादृशीनां भगवत्सङ्गमविरहजन्यं सुखं दुःखं च निर्गुणमिति ज्ञापनीयम्, अन्यथा रासमण्डलमण्डनायमानानां भावादिषु सगुणत्वबुद्ध्या सर्वेषां प्रवृत्तिर्न स्यात्, तथा च मदवतारोपि व्यर्थः स्यादत एता एव श्रुतीस्तस्मिन्कल्पे अवतारयित्वैतासां भावादिकं च सगुणं विधाय सगुणभावः सगुणदेहः सुखदुःखादिकं च कर्मजन्यमिति ज्ञापनीयम्। एवं सत्येतासां तद्भावतेद्देहादिनाशे लौकिकभिन्नशरीरप्राप्तौ सर्वभावप्रपत्तिरूपं साधनं तल्लभ्यं फलं भविष्यति, मुख्यानां भावादेर्निर्गुणत्वं च ज्ञापितं भविष्यतीत्युभयमपि कार्यं सेत्स्यति। अन्यथा तज्ज्ञापनार्थं प्रयत्नान्तरकरणमापद्येतेति जारभावो भगवतैव दत्तो, न तु तासां जारभावप्रपत्तिः साहजिकीति बोध्यम्। एवं च बृहद्वामनपुराणीयकथाविचारेणापि नैतासां मध्यमफलमायाति किन्तूत्तमफलप्राप्तिरेवेति कृतमधिकतराभिनिवेशेन। अत एव सुबोधिन्यामुक्तं पुरस्तादित्यस्य द्वितीयव्याख्याने श्रीमदाचार्यैरुक्तं ''यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासां सर्वासामेव रासमण्डलमण्डनायमानानां शरीरमपि गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कतिपयगोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा पूर्वोक्तानां भावोपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणं भावमुत्पाद्यैतन्निवर्तकोपि स्वयमेव नान्य इति ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधायाग्रे भाविस्वविरहजदुःखस्वसङ्गमसुखयोः कर्माजन्यत्वमपि ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय मत्स्वाम्येव सर्वं कृतवानिति निगर्वः। अत्र पुष्टिमार्गाङ्गिकारान्मर्यादामार्गीया अनुपपत्तयोनवसरपराहता इति सर्वमनवद्य''मिति। न च तासां यदा सगुणदेहनाशस्तदैव भगवति सर्वजीवतत्त्वरूपभगवत्कौस्तुभे वा ''मणिधरः क्वचिदागणयन्गा'' इत्यत्रोक्तगोपि-(अत्र एकं पत्रं त्रुटितमिति प्रतिभाति)-ष्टानामन्तर्गृहगतानां रासानुभवोत्तरं भवन्मते कुत्र स्थितिर्भवतोच्यते, अस्मन्मते तूक्तस्थानान्यतमस्थाने लयाद्भगवता सह व्रज एव समागमनम्, पुना रासलीलासमये भगवता सह तत्र गमनम्, तदा त्वलौकिकदेहप्राप्त्या रमणम्, पुनरपि तत्रैव लय इति चेत्, अत्र ब्रूमः। यावद्व्रजीयैरलक्षिततत्वेन केवलप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनाभावविशिष्टत्वेन चास्मिन्नेव व्रजेन्तर्गृहगतानां स्थितिः। न च विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव व्रजे

तासां स्थितौ किं मानमिति वाच्यम्। ''या मया क्रीडता रात्र्या''मिति भ्रमरगीतपद्यसुबोधिनीस्थश्रीमदाचार्यकृतव्याख्यानस्यैव प्रमाणत्वात्। तथा हि, यदि व्रजीयैरन्तर्गृहगतानां सगुणदेहत्यागोत्तरप्राप्तनिर्गुणदेहसम्बन्धिनी लीला दृश्येत तदा रासमण्डलमण्डनायमानाः प्रति त्वन्तर्गृहगताविषयकस्वकृतक्रीडाव्रजस्थितिकथनपूर्वकं किमिति स्वप्राप्तिसाधनं बोधयेत्, स्वप्राप्तिसाधनमात्रमेव तु बोधयेत्, स्वकृतक्रीडाव्रजस्थित्योस्तु ताभिर्दृश्यमानत्वादतो नैतासां तल्लीलादर्शनमिति भगवतासां स्वक्रीडाव्रजस्थिति अपि बोध्येते इति यावद्व्रजीयैरलक्षितत्वं सिद्धम्। अथ च भवत्यः समागताः अन्तर्गृहगता गृह एव स्थितास्तास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवत्यः। अनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्यस्तस्मान्मदर्थं जीवनस्थापनमिति पक्षो निरर्थकः। अन्यथा समागतानां भवतीनां पुनः क्लेशो न भवेदनुभवसिद्धश्च क्लेशः। ननु ताः प्रतिबन्धेन तथाभूताः कथं स्तुत्या इत्याशङ्क्ययाह कल्याण्य इति। तासां महद्भाग्यमस्तीत्यवश्यप्रतिबन्धरूपं दुरितं दृष्ट एवोपक्षीणमिति कण्टकेन कण्टकोद्धारवद् देहनिराकरण एवोपक्षीणम्, भवतीनां तु तद्दुरितमिमामवस्थां प्रापितवत्, अतो मदुक्तप्रकारेण दोषं परित्यज्य तामवस्थां प्राप्य मां प्राप्स्यथेति भाव इति श्रीमदाचार्यव्याख्यानपर्यालोचनेनान्तर्गृहगतानां नाक्रूरागमनरूपमथुरोद्देश्यकभगवन्नयनरूपप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनमस्ति। यदि तद्दर्शनं स्यात् तदा भवतीनां तु तद्दुरितमिमामवस्थां प्रापितवत्, तास्तु महाभाग्यवत्यस्तासामवश्यप्रतिबन्धरूपं दुरितं सगुणदेहनिवृत्तावेवोपक्षीणमतस्ता इमामवस्थां न प्रापितवदिति भगवान्न कथयेदेव। अक्रूरागमनभगवन्नयनदर्शनजक्लेशस्यैतासामप्यवश्यसिद्धत्वात्। तस्मादन्तर्गृहगतानां न प्रपञ्चमात्राविर्भूतलीलादर्शनमित्यपि सिद्धम्। उचितं चैवमेव यतः श्रुतिरूपाभिरन्तर्गृहगताभि''र्यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षा जनिता तथे''त्यनेन प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मस्थव्यापिवैकुण्ठान्तर्गतव्रजान्तस्थप्रपञ्चानन्तर्गतवृन्दावने तत्रस्थनानारासरसोन्मत्तगोपीकदम्बकभावसजातीयभावेन भगवता सह रमणं प्रार्थितम्, तद्यदि तासां प्रापञ्चिकपदार्थदर्शनं स्यात्, तदा प्रपञ्चानन्तर्गतवृन्दावने तादृशभावेन भगवता सह रमणं न प्राप्तमेव स्यात्, एवं च ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह''मिति मर्यादाभङ्गः स्यादिति न तासां प्रपञ्चमात्राविर्भूतलीलादर्शनमिति साधीयसी पूर्वोक्तोक्तिः। एवमेवास्मिन्नेव व्रजे ता आस्थिता इति भवतीनामपि निर्बन्धेनैवात्र स्थापनमित्यनेनास्मिन् व्रज आस्थिता इत्यस्य व्याख्यानेनास्मिन्नेव व्रजे स्थितत्वमपि सिद्धम्। इदमेवाभिप्रेत्य पूर्वमेवोक्तं यज्ञपत्नीप्रसङ्गे विंशाध्याये,

''तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्। हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धन''मितिपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां भगवत्सङ्गतायाः स्थानान्तरं न मृग्यम्, तच्छक्तीनामिव। अत्र यत्र भगवांस्तत्र तच्छक्तयः श्क्यादयो गोप्यादयो वेत्यर्थो ज्ञेयः। एवं चात्र भगवान् व्रजे तिष्ठतीति ता अपि व्रजे एव चेति व्रजे स्थितत्वमायात्वेवेति दिक्। एवं च सिद्धा विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव व्रजे स्थितिरन्तर्गृहगतानाम्। तथा च गोपसाहित्येन गोचारणलीलार्थं भगवतो गमने रासलीलानन्तरं भगवतो गृहगमने च दिवा विप्रयोगरसानुभवः, सायंसमये परावृत्त्य भगवदागमने रात्रौ च वृन्दावन एव महानन्दसन्दोहानुभवश्चैतासामपीति संयोगरसमात्रानुभव एवैतासामिति कथं वक्तुं शक्यत इति कृतं विस्तरेणेति सर्वं चतुरस्रम्।

स्यादेतत्। वयमन्तर्गृहगतानां यन्मध्यमं फलं वदामो न तूत्तमफलम्, तत्र यतोन्तर्हिते भगवतीति फलप्रकरणीयद्वितीयाध्यायस्थप्रारम्भपद्यव्याख्यान सुबोधिन्यां सन्ति च सिंहास्तथात्र काल इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम्। व्याख्यातं चैतत् तत्तनुजरत्नैः स्वकृततट्टिप्पण्यामवतारसम्पूर्तिकाल इत्यर्थ इति, तत्रापूर्णविप्रयोगसंयोगात्मकः पूर्वावतारः समाप्त इदानीं पूर्णविप्रयोगात्मकपूर्णसंयोगात्मकपुरुषोत्तमावतारो जात इत्युच्यते, तत्रान्तर्हिते भगवतीत्यनेन पूर्णविप्रयोगात्मकस्तदनन्तरं 'तासामाविरभू'दित्यनेनैकोनत्रिंशाध्याये पूर्णसंयोगात्मकपुरुषोत्तमावतार उक्तः। एवं च पूर्वस्वरूपाद्भिन्नमेवेदं भगवत्स्वरूपं परमकाष्ठापन्नम्, एतत्तु अन्तर्गृहगताः प्रति न प्रकटमेव, अतस्तासां नैतादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिः, किन्तु न्यूनसंयोगविप्रयोगरसात्मकत्वेनासम्पूर्णत्वात् तादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिरेवेति न सम्पूर्णफलप्राप्तिरिति तासां मध्यमफलप्राप्तिरित्युच्यते। न चेदं स्वरूपं पूर्वं न प्रकटमिदानीमेवाविर्भूतमित्यत्र किं प्रमाणमिति वाच्यम्, ''गायक्त्य उच्चै''रितिपद्यव्याख्यानसुबोधिनीस्थशब्दो हि धूमवल्लोक इति श्रीमदाचार्यतनुजरत्नकृतश्रीमदाचार्यकारिकाटिप्पण्यां ''अत्रेदमाकृतम्, एतावत्कालपर्यन्तं भगवता स्वरूपानन्दो न प्रकटितः। तस्य स्वरूपात्मकत्वेन तत्प्राकट्यं विना तदनुभवासम्भवात्, ''तथा परमहंसाना''मिति वाक्याद्यादृशेन भक्तियोगेन तत्प्राप्तिस्तादृक् तत्प्रकटनायाधुनैव पुरुषोत्तमावतारादित्यादितत्तनुजरत्नप्रतिपादनान्तर्गतैतावत्कालाधुनापदवाच्यान्तर्धानकालतदधिकरणकपुरुषोत्तमावतारोक्तेरेव प्रमाणत्वादिति चेत्, अत्र वदामः। आगामिविरिञ्चिसृष्ट्युद्यतविरिञ्चिदिनरूपसारस्वतकल्पे भवन्तो व्रजे गोप्यो भविष्यथ तत्र पृथिवीस्थभारतक्षेत्रान्तर्गतमाथुरमण्डलान्तर्गतवृन्दावनेहं भवतां प्रेयान्रासमण्डले भविष्यामीति प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मान्तःस्थानन्दमयव्यापि

वैकुण्ठलोकस्थशुद्धपुष्टिस्थानरूपश्रीमद्गोवर्धनयमुनासहितनानारासरसोन्मत्तगोपीकदम्बकविशिष्टकेवलशृङ्गाररसानन्दमयेन सारस्वतकल्पानुसारिश्रीभागवतीयकृष्णस्तु भगवान् स्वयमितिवचनसिद्धपरमकाष्ठापन्नत्वेन भगवता वेदान् प्रति वरो दत्तः। एवं च ब्रह्मकल्पादारभ्य सारस्वतकल्पपर्यन्तं न पूर्णपुरुषोत्तमावतारो जातः, सारस्वतकल्प एव च जात इति सिद्धम्। एवं चेदं प्रघट्टकमेव मनसिकृत्यैतावत्कालाधुनापदे उक्ते। तथा चैतावत्कालपर्यन्तपदस्य ब्रह्मकल्पादारभ्य सारस्वतकल्पपर्यन्तमित्यर्थोऽधुना पदस्य च सारस्वतकल्पे इत्यर्थः सम्पन्नः। तथा च बाल्यमारभ्य कृता लीला सर्वापि रसालतामापद्यते। भवदुक्तप्रकारे त्वेतदवतारपूर्वसामयिकी सर्वापि लीला स्वरूपान्तरसहभावेन कृतत्वाद्रसाभासतामाविष्करोति। किञ्च। रासमण्डलमण्डनाभिः कृतं ''कस्याश्चित् पूतनायक्त्या'' इत्यादिलीलानुकरणमपि न सङ्गच्छते। इदानीमाविर्भूतविप्रयोगसंयोगात्मक स्वरूपेण तत्तल्लीलाया अकृतत्वात्। स्वप्रियकृतलीलानुकरणस्यैव लीलाहावरूपत्वमिति रसशास्त्रसिद्धान्तात्। अपरञ्च। विचयनसामयिकनन्दसूनुर्गतो हत्वा रामानुजो मानिनीनां, गोविन्दचरणप्रिये इत्यादिषु नन्दसुतबलभद्रानुजगोकुलेन्द्रादिनामकथनस्याथ च ''विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसा'' दित्याद्युक्तकालीयादिभयरक्षितत्वगो चारणगमनकर्तृत्वादिकथनस्य तत्समयप्रकटस्वरूपे सम्भवाभावेन भ्रमरूपत्वापातात्। न चास्तु भ्रमरूपत्वमिति वाच्यम्। तथा सति रासमण्डलमण्डनायमानानां भावानुसारेणेदानीन्तनभजनकर्तृभिरेतादृशभव त्सिद्धान्तस्य ज्ञायमानत्वेन नन्दसून्वादिनामाग्रहणस्य बाललीलामारभ्य रासलीलाप्रारम्भपर्यन्त कृतलीलानामभावनाप्रसक्तेः। अन्यच्च। श्रीमन्नवनीतप्रियश्रीमद्गोवर्धनोद्धरणस्वरूप भजनाप्रसक्तेश्च महाननर्थः प्रसज्जेत। न च तदन्तर्गतमिदमपि स्वरूपं वर्तत एवेति वाच्यम्। तथा सति तत्तल्लीलाविशिष्टस्वरूपाणां तत्तल्लीलाश्रवणादीनां तत्तत्स्वरूपभजनस्य च गौणलीलात्वगौणश्रवणादित्वगौणस्वरूपभजनत्वापत्तेश्च। अपरञ्च। ''जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्। तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधा'' इतिपद्येन श्रीमदाचार्यैर्यशोदोत्सङ्गलालितस्य सिद्धान्तितायाः परमतत्त्वताया भङ्गप्रसङ्गश्च। न हीदानीमाविर्भूते स्वरूपे यशोदोत्सङ्गलालितत्वमस्तीति तद्विरुद्धा भवद्राद्धान्तपद्धतिः कथं भव्यतामुपेयात्। अथ च ''सखिकापि सापि सम्प्रति वरिवर्ति किमु व्रजाधिपप्राणा। या नन्दसूनुमुरलीतरलं चेतः समादध्या''दिति तत्तनुजराजोक्ता स्वस्य तरलचेतस्त्वे नन्दसूनुमुरल्या हेतुत्वोक्तिरपि कथं समञ्जसा

स्यात्। श्रीमदाचार्यरत्नानां तत्तनुजराजानां च व्रजभक्तभावात्मकभगवत्स्वरूप एव निष्ठावत्त्वात्। ननु तर्ह्यवतारसम्पूर्तिकाल इत्यस्यास्मत्प्रभुकृततथात्र काल इत्यत्रत्यकालपदव्याख्यानस्य का गतिरिति चेत्। अत्रोच्यते। पॄ पालनपूरणयोरितिधात्वर्थानुसारात् सम्पूर्त्तिशब्दस्य सम्पूर्णता ह्यर्थः, सा च केनचित् प्रकारेण न्यूनस्य भवति। तत्रास्मदाचार्योक्तमार्गो हि फलमार्गः। तत्र फलरूपो भगवानेव साधनम्, फलरूपो भगवानेव च फलम्। तत्र परमकाष्ठापन्नस्य फलरूपभगवतो 'रसो वै स' इति श्रुते रसरूपत्वात् स्वप्नादिसंयोगविशिष्टप्रेमासक्तिव्यसनपर्यन्तावस्थासंवलितपूर्वानुरागजविप्रयोगरूपेण साधनता। तदनन्तराविर्भूतपरस्परपोष्यपोषकभावविशिष्ट विप्रयोगातिपुष्टपूर्णपूर्णतरपूर्णतमसंयोगतादृशसंयोगातिपुष्टपूर्णपूर्णतरपूर्णतमविप्रयोगपरम्परारूपेण च फलता। तत्रापि परम्परायां परमफलता तु संयोगरूपस्यैव। इदं यथा तथानुपदमेव प्रतिपादयिष्यते। एवं च बाल्यमारभ्य पौगण्डान्तं पूर्वोक्तप्रकारकपूर्वानुरागजविप्रयोगरूपसाधन विशिष्टत्वमेव व्रजभक्तानाम्। तत्र फलात् साधनं न्यूनमेवेत्यनुभवसिद्धम्। अन्यथा साधने प्राप्ते फलाकाङ्क्षा न स्यात्। तथा चैतासां पूर्वानुरागविशिष्टस्वप्नादिसंयोगसुखे प्राप्तेति बाह्यसंयोगसुखस्याभिलषितस्याजातत्वादेतावत्पर्यन्तं साधनरूपत्वमात्रेणैव भगवत आविर्भावात् पुरुषोत्तमावतारो न्यून एव स्थितः। अतःपरं तु 'बाहुप्रसारपरिरम्भे'त्याद्युक्तेन तदभिलषितपूर्णबाह्यसंयोगसुखरूपेण, तदनन्तरमेतत्संयोगसुखपोषार्थमुक्तसंयोगपु''ष्टान्तर्हिते भगवती''त्याद्युक्तेन पूर्णविप्रयोगस्वरूपेण, तदनन्तरं 'तासामाविरभू'दित्याद्युक्तेन रासावसानपर्यन्तं पूर्णपूर्णसंयोगसुखस्वरूपादपि कोटिगुणेन पूर्णविप्रोगपुष्टेन पूर्णतरसंयोगसुखरूपेण, तदनन्तरं च गोप्यः कृष्णे वनं यात इत्याद्युक्तेन पूर्वोक्तपूर्णतरसंयोगसुखपुष्टेन परार्धगुणभाविसंयोगसुखपोषार्थं पूर्णतरविप्रयोगस्वरूपेण, ततः पुनः पूर्वोक्तपूर्णतरविप्रयोगपुष्टेन गोचारणपरावृत्तिजनितबहुपरार्धगुणपूर्णतम संयोगसुखरूपेणाविर्भूतः, ततः पुनरप्यक्रूरकृतमथुरानयनजनितेन पूर्णतमसंयोगसुखपुष्टेन पूर्णतमविप्रयोगरूपेण पुनरपि भावभरेणानन्तगुणान्तरबाह्यसंयोगसुखस्वरूपेण चेत्येवं संयोगपरम्परारूपेणाविर्भविष्यति भगवान्। एवं चेदानीमेव रसरूपावतारस्य पूर्वं बाहुप्रसारेत्यादिना एकदलरूपसंयोगावतार उक्तः, इदानी''मन्तर्हिते भगवती''त्यादिना द्वितीयदलरूपविप्रयोगावतार उच्यते इति सम्पूर्णता जायत इत्यवतारसम्पूर्तिकाल इत्यत्रत्यसम्पूर्तिशब्देन सम्पूर्णतोक्ता, न तु पूर्वावतारसमाप्तिर्जातेत्युच्यते।

समाप्तिरूपार्थस्यैव विवक्षितत्वेवतारसमाप्तिकाल इत्येवोक्तं स्यात्। तस्मादवतारसम्पूर्तिकाल इत्यस्यावतारसम्पूर्णताकाल इत्यर्थः सम्पन्न इति नन्वित्यादिभवत्प्रश्नोत्तरस्य सिद्धेरिति सर्वं भव्यम्। यत्पुनर्विप्रयोगस्यैव फलत्वम्, न संयोगस्य, संयोगस्तु तडिल्लतावत् किञ्चित् कालं मध्ये मध्ये जायमानो भक्तानां देहस्थित्यर्थमुपयुक्तो भवति। भगवद्विषयकविप्रयोगस्यातिदुःसहत्वात्। अत एव भगवतो मथुरातः परावृत्यानागमनम्, संयोगस्यैव फलत्वे मथुरातः परावृत्त्यागमनमेव स्यात्। नन्वत्र किं प्रमाणमिति चेत्। ''भवतीनां वियोग'' इति पद्यव्याख्यानसुबोधिन्यामथदेहभावेनात्मा गौण इति देहेन सह वियोग आविर्भूतस्योच्येत। तदपि न घटते। समवायिकारणत्वेन तेषु वर्तत इति। अन्यथा देहा निःस्वभावाः स्युः। आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारी। अन्यथा स्वरूपनाश एव स्यात्। यथाग्निकाष्ठयोः। पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्धदग्धाः पुनः सम्बन्धेन सर्वदाह एव स्यात्। सुखानुभवस्तु स्वान्तःस्थिताग्न्यभिव्यक्तिवत् स्वान्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या। सर्वथामिव्यक्तौ काष्ठांशो ज्वलिष्यतीति न सम्बध्यते, यतो भगवान् प्रलयकर्तेत्यादिप्रघट्टकपर्यालोचने काष्ठान्तःस्थिताग्नेरभिव्यक्तिर्यथा बाह्योपाधिसम्बन्धाभावे किञ्चित्कालिकी, एवं सवान्तःस्थितभगवदभिव्यक्तिरपि तडिल्लतावद्भगवत्संयोगाद्विप्रयोगस्यैव सार्वकालिकत्वाद्विप्रयोगस्यैव फलत्वं न संयोगस्येति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेरेव प्रमाणत्वात्, आविर्भूतेन वियोगस्त्वित्यादेरयमर्थः। यद्याविर्भूतस्वरूपेण संयोगः स्यात् तदा मथुरात आगमनज्ञानेऽस्मान् विहाय गति इति निश्चयजनितमहादुःखेन देहपातः स्यात्, तदेवोक्तमन्यथेत्यादिना सदृष्टान्तमतोयं वियोगो हितकारीति भावः। पूर्वसम्बन्धेनेत्यादेरयमर्थः। राससामयिकवियोगोत्तरसञ्जातसम्बन्धेनैवैताः स्वत्यागजनितमहादुःखेन स्मरणपथगतेनार्धदग्धाः अतःपरमिदानीन्तनसम्बन्धे मथुराविषयकगमनज्ञानेन कोटिगुणे दुःखे जाते सर्वदाहः स्यादिति ज्ञेयाग्रे स्पष्टोर्थ इति वदन्ति। तत्रापि वदामः। भगवद्रूपरसो ह्यग्निरूपः। तत्र यथाग्निस्तापजनकः शीतलताजनकश्चेति द्विविधः। तत्रान्नादिपरिपाकजनकोग्निस्तु तापजनकः। हिमादिरूपोग्निस्तु शीतलताजनकः। तत्र यावत्पर्यन्तं देहादिषु तापस्तावत्पर्यन्तं हिमरूपोग्निः स्वसम्बन्धेन देहादिस्थितिकारकः। सर्वथा स्वसम्बन्धेन देहादिनिष्ठतापनिवृत्तौ शीतलतागुणेन देहादिनाशकरश्च। एवं रसरूपो भगवद्रूपोग्निरपि विप्रयोगसंयोगरूपेण द्विधः। तत्र विप्रयोगात्मको रसरूपो वन्हिस्तापकारकः, संयोगरूपो वह्निस्तु शीतलताकारकः। तत्र यावत्पर्यन्तं देहे विप्रयोगजनितस्तापसम्बन्धस्तावत्पर्यन्तं

तापनिवर्तकस्वशीतलतागुणेन देहजीवात्मनोः स्थितिकारकः। स्वसम्बन्धेन सर्वथा तापनिवृत्तौ संयोगरूपो वह्निस्तु जीवलयसम्पादकस्वभावत्वात्। स्वसम्बन्धेन सर्वथा जीवस्य लये सम्पन्ने स्थितोपि भक्तिमार्गीयजीवात्मा रसानुभवाभावान्नष्ट एव भवतीति तन्नाशकारकः। अस्मिन् पक्षे श्रीमदाचार्योक्तसर्वदाह एव स्यादित्यत्रत्यदाहपदेन स्वरूपनाश एव स्यादित्यत्राप्याचार्योक्तनाशपदेनापि लय एव ज्ञेयः। जीवस्याविकृतत्वान्नित्यत्वात् काष्ठादिदाहवद्दाहस्य देहादिनाशवन्नाशस्य वाऽसम्भवात्। एवं च सति यदि भगवानेताभिः सह संयुज्येत तदा पूर्वानुभूतानन्दात् कोटिगुणानन्दप्रादुर्भावे सर्वथा तापनिवृत्तौ भक्तात्मनां लय एव भवेद्, एवं च रसमार्गीयफलाभावः सम्पद्येतेत्याविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारीत्युक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः। न च लयसम्भावनायामेव पुनरपि विप्रयोगाविर्भावे पूर्वोक्तफलसम्भव इति वाच्यम्। यदि पुनरपि बहिराविर्भूतस्वरूपविप्रयोगाविर्भावावश्यकत्वम्, तदैतेनैव विप्रयोगेण चारितार्थ्यात् पिष्टपेषणन्यायप्रसक्तेः। न च सुखानुभवार्थं बहिराविर्भूतस्वरूपेण संयोगो देय एवेति वाच्यम्। अन्तःस्थिताग्न्यभिव्यक्तिवदन्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या सुखानुभवसिद्धिरिति श्रीमदाचार्यैरेवोक्तत्वाद्बहिराविर्भूतस्वरूपसंयोगस्य निःप्रयोजनकत्वादिति दिक्। यद्वा। बहिराविर्भूतस्वरूपेण वियोगस्तु हितकारीत्यस्यायमर्थः। प्रपञ्चप्रादुर्भूतमथुरागतभगवत्सम्बन्धे महासुखानुभवे जाते पुनरपि रसरूपभगवत्स्वभावाद्विप्रयोगे जाते यथा – यथा संयोगानन्दाधिक्यम्, तथा – तथा विप्रयोगे तापाधिक्यम्, यथा – यथा विप्रयोगे तु दुःखाधिक्यम्, तथा – तथा संयोगे आनन्दाधिक्यम्, इत्यनुभवान्मथुरागतस्वरूपेण विप्रयोगे पूर्वतापादपि कोटिगुणे तापे जाते देहनाश एव स्यात्, एतत्तापस्य प्रलयाग्नितापादपि प्रबलत्वात्। यथा बाह्याग्निकाष्ठसम्बन्धे काष्ठनाशः। अस्मिन् पक्षे पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्धदग्धाः, पुनः सम्बन्धे सर्वदाह एव स्यादित्यत्रत्यपूर्वसम्बन्धेनेत्यस्य पूर्वविप्रयोगसम्बन्धेनेति पुनः सम्बन्धे इत्यस्य च पुनर्विप्रयोगसम्बन्धे इति चार्थो बोध्यः। तस्माद्बहिराविर्भूतस्वरूपेण भगवान्न सम्बध्यते। सुखानुभवस्त्वन्तरनुसन्धानेन्तःस्थिताग्न्यभिव्यक्तिवदन्तःस्थितभगवत्स्वरूपाविर्भावेनान्तर्बहिरनुसन्धाने भगवत्सङ्गमाकाङ्क्षायामप्यन्तःस्थितस्यबाह्यप्राकट्यादेव बहिरपि भविष्यत्येवेति बहिराविर्भूतस्वरूपेण वियोगो हितकारीत्युक्तं श्रीमदाचार्यैः। न चान्तःस्थस्वरूपप्राकट्येन तत्सम्बन्धजनितसुखातिशयोत्तरसञ्जातविप्रयोगादपि देहनाशप्रसक्तिर्भवित्र्येवेति वाच्यम्। बाह्यतृणतूलरूपोपाधिसम्बन्धाभावे मथनाविर्भूतकाष्ठान्तःस्थवह्निर्न

काष्ठादहनसमर्थः, तथात्र बाह्योपाधिरूपसर्वमुक्तिदानसम्बन्धाभावे बहिराविर्भूतस्वरूपमप्यग्नि त्वान्न देहनाशकरम्, किन्तु प्रपञ्चातीततापक्लेशनाशरूपरसधर्मपुरस्कारेणैव प्रकटमिति तदेव करोतीति भवदुक्त्यप्रसक्तेः। यद्वा। आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारीत्यादेरयमभिप्रायः। प्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपं हि सर्वमुक्तिदानाय प्रकटम्, तत्र सर्वमध्ये गोपिकानामपि सत्त्वादेतासामपि लयरूपमुक्तिमेव प्रतिक्षणं ददाति भगवान्, परं तस्मात् पृथक्कृत्य भजनानन्दमनुभावयति। ''ये यथा मां''मिति प्रतिज्ञातः। अत्रोपष्टम्भकरूपा ''यत एतद्विमुच्यत'' इतिफलप्रकरणीयपञ्चाध्यायीपद्यव्याख्यानसुबोधिनी द्रष्टव्या। एवञ्च तस्मात् पृथक्करणक्लेशः प्रतिक्षणं प्रभोर्भवतीति प्रक्षालनाद्धि पमस्येति न्यायाद्बहिःप्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपेण भगवान् न सम्बध्यते, तेन गोपिकानां लयनिवृत्तेर्हितं भवतीति प्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपेण वियोगो हितकारीत्याचार्यैरुक्तम्। बाह्याननुसन्धानेनुसन्धाने वा भावभरेणान्तर्बहिःप्रकटरसरूपस्वसंयोगं तु करोत्येव प्रभुः। तासामभिलषितत्वाद्रसमार्गीयपरमफलरूपत्वाच्च। तस्मान्न विप्रयागेस्य परमफलत्वम्, किन्तु संयोगस्यैव। संयोगसाधनत्वात् पूर्वानुरागजनितविप्रयोगस्य संयोगपोषकत्वात् संयोगानन्तराविर्भूतस्य विप्रयोगस्य च परमफलत्वमुच्यते। अन्यथा भगवत्संयोगोस्माकं भवत्वितीच्छोदयवद्व्रजभक्तानां भगवद्विप्रयोगोस्माकं भवत्वितीच्छोदयोपि श्रीभागवते श्रुतः स्यात्। इदानीन्तनानां भगवद्विप्रयोगेच्छोदयस्तु भगवत्संयोगसाधकत्वपोषकत्वज्ञानादेव भवतीति न काप्यनुपपत्तिः। यद्यपि भगवतो रसरूपत्वात् संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद्रसरूपभगवत्प्राप्तौ विप्रयोगोप्याम्रादिफले त्वग्बीजादिवदन्तर्गतोभवति तथापि त्वग्बीजादिप्राप्त्या यथाम्रफलरसाकाङ्क्षा भवत्येव, तद्रसप्राप्त्या तु त्वग्बीजाद्याकाङ्क्षा न भवति, तथा विप्रयोगप्राप्त्या संयोगाकाङ्क्षा भवत्येव, संयोगप्राप्त्या तु विप्रयोगाकाङ्क्षा तु न भवतीति संयोगस्यैव परमफलत्वं वक्तुं शक्यते। ज्ञाते सति स्ववृत्तितयेष्यमाणस्यैव फलत्वात्। न त्विदं विप्रयोग इति न विप्रयोगस्य फलत्वम्। अत एव फलप्रकरणीयप्रथमाध्यायसुबोधिनी प्रारम्भस्थाया''मतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम्। बाह्याभ्यन्तरभेदेन ह्यान्तरं तु महाफल''मितिकारिकायां रमणपदवाच्यबाह्याभ्यन्तरसंयोगस्यैव फलत्वं महाफलत्वं च क्रमेणैवोक्तम्। एवमेव ''स्वानन्दस्थापनार्थाय लीला भगवता कृता। स बाह्यो जनितः पुष्टो यथान्तर्निविशेत्पुनः। तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोविश''दित्येतद्द्वितीयाध्यायसुबोधिनीप्रारम्भकारिकायां विप्रयोगस्य संयोगपोषकत्वमेव, फलत्वं तु संयोगस्यैव श्रीमदाचार्यवर्यैरुक्तम्। अत एव ''मयि

ताः प्रेयसां प्रेष्ठ'' इति भ्रमरगीतपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यामपि फलसाधकत्वाद्भक्तिमार्गे विरह एव पुरुषार्थ इति किमिति निराक्रियते तत्राहेत्याभासे विप्रयोगस्य फलसाधकत्वमेवोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैर्न तु फलत्वमिति भवत्सिद्धान्तिता विप्रयोगस्यैव परमफलरूपता कथं सङ्गच्छेततराम्। अतःपरं विप्रयोगान्तर्गतभगवत्स्वरूपप्राकट्यं तडिल्लतावत् किञ्चित्कालिकमेव भवति, अन्यथा देहनाशः स्यादिति यदुक्तम्, तदपि न विचारक्षमम्। ताभिः किञ्चित्कालिकसंयोगस्यानाकाङ्क्षितत्वात्, बहुकालिकसंयोगस्यैव तदाकाङ्क्षाविषयत्वात्। इदं तु दशमस्कन्धीयषट्त्रिंशाध्याये ''अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः। तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं विचेष्टितं तेर्भकचेष्टितं यथे''त्यारभ्य श्लोकचतुष्टये ''निवारयामः समुपेत्य माधवं किन्नो करिष्यन्कुलवृद्धबान्धवाः। मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्धदुस्त्यजाद्दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम्, यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्रलीलावलोकपरि रम्भणरासगोष्ठ्याम्। नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्त''मितिश्लोकद्वये च प्रकटमेव। एवमपि सति यदि किञ्चित्कालिकमेव संयोगं दद्यात् तदा ''ये यथा मा''मिति भगवत्प्रतिज्ञाहानिः स्यात्। तडिल्लतावदेतासां संयोगो भवतीत्यादिप्रकारस्य श्रीमदाचार्यैस्तत्तनुजरत्नैश्च कण्ठरवेण कुत्राप्यनुक्तत्वाच्च। तस्मादन्तर्बहिर्दिवा रात्रौ चातृप्तिसंयोगरूपेण प्रकटः, पुनस्तत्संयोगपोषार्थं विप्रयोगरूपेण च प्रकटः, पुनः पूर्वप्रकारसंयोगरूपेण पुनर्विप्रयोगरूपेणेति परम्परया गोपिकाभिः सह क्रीडति भगवानिति कृतं विस्तरेण। ननु तथापि नान्तर्गृहगतानामेवंविधसम्पूर्णरसरूपभगवत्प्राप्तिरेतासां मुक्त्यनन्तरमेवैतादृ शरसलीलाप्राकट्यादिति तत्प्राप्तफलस्य मध्यमफलत्वमस्माभिरुच्यत इति चेत्, अत्रोच्यते। सगुणशरीरत्यागोत्तरतत्क्षणप्राप्तगुणातीतदेहेन भगवन्निकटगतानामन्त र्गृहगतानामपि ''ताभिः समेताभिरुदारचेष्टित'' इत्यादिलीलासौभगजन्यमदमान लीलाप्राप्त्युत्तरसामयिकान्तर्धानलीलामारभ्य ''वामबाहुकृतवामकपोले'' त्याद्युक्तयुगलगीतलीलान्तसर्वलीलानामपि प्राप्तिरेतासामिति श्रीमदाचार्यतत्तनुजरत्नानां हि सिद्धान्तः। अत एव ''ता दृष्ट्वान्तिकमायाता'' इतिफलप्रकरणीयपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां ''यास्तु समाहूताः समागतास्ता न निवार्यन्ते, याः पुनः सगुणाअन्यसम्बन्धिन्यस्ताः शब्दश्रवणात् समागता इति शब्देन निवारणीयाः, अन्यशेषतया भजनमयुक्तमिति। करिष्यमाणलीला तु सर्वभावप्रपत्तिसाध्या, अतो निवारणार्थं यत्नमाहे''ति श्रीमदाचार्यैर्व्याख्यातम्। विवृतं

चैतत् तत्तनुजरत्नैः स्वकृतटिप्पण्यां ''यदन्तर्गृहगता अनाकारिता एव नादं श्रुत्वोद्युक्ता इति प्रतिबन्धोभूदिति शमानिरासायाहुः याः पूर्वोक्तास्ता अप्याहूताः तत्रोपपत्तिमाहुः समागता इति। अन्यथा तथा न स्यादिति भावः। गेहस्य देहसम्बन्धित्वात् तस्य च नष्टत्वे नैतासां गृहाभावात् तत्र गमनं बाधितमिति न निवार्यन्ते'' इति। एवं चान्तर्गृहगता न निवार्यन्त इति स्फुटमेव प्रतीयते, तत्र तन्निवारणं च भगवन्निकटप्राप्तौ सति सम्भवति, भवदभिमतसिद्धान्ते त्वेतासामिदानीं लय इति तन्निवारणप्राप्तेरभावाच्छ्रीमदाचार्योक्तिस्तत्तनुजरत्नोक्तिश्चासमञ्जसा स्यात्। तस्मादन्तर्गृहगतानां गुणातीतदेहप्राप्त्या भगवन्निकटगमनं सिद्धम्, तदा तन्निवारणप्रसञ्जनं च सिद्धम्। एवं च तदुत्तरसामयिकी सर्वापि लीलैतासु सिद्धेति न मध्यमफलत्वमेतत्फलस्य, किन्तूत्तमफलत्वमेवेति व्यर्थ एवैतासां मध्यमफलप्राप्तिरिति सिद्धान्ताभिमानः केषाञ्चिदिति सर्वमवदातम्।

श्रीवल्लभतत्सुतवरविट्ठलनाथाङ्घ्रिरेणुलवबलतः।
जयगोपालः कृतवान् सविवृतिसेवाफलव्याख्याम्।।१।।
मूर्ध्न्यञ्जलिं[१] ननु निधाय निधाय भूयो
भूयः कृपालुषु महत्सु निवेदयामि।
यत्किञ्चिदत्र लिखितं मयका भवद्भिः
तत् पुष्टिमार्गपथिकैः परिशोधनीयम्।।२।।

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणकमलैकतानमानसश्रीमन्महाप्रभुश्रीविट्ठलेश्वर कृपाकटाक्षोद्बुद्धबुद्धिना सुबुद्धिना मठपतिजयगोपालेन विरचिता सविवृतिसेवाफलटिप्पणी समाप्ता।।

।। श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।।

---

१ इदं पद्यं जयगोपालकृतबहिर्मुखमुखध्वंसान्तेऽपि विद्यते। आरम्भस्थं 'बर्हिबर्हलसन्निति'पद्यं तत्कृततैत्तिरीयभाष्यस्थम्। इदं पद्यद्वयं तत उद्धृत्यास्यां टीकायां ग्रन्थकृता पश्चान्निवेशितमिति प्रतिभाति।

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम्।

मठेशश्रीलक्ष्मणभट्टविरचितसेवाफलविवृतिविवरणसमेतम्।

विचार्य श्रीमदाचार्यप्रोक्तं सेवाफलाभिधम्।
ग्रन्थं तद्विवृतिं चापि विवृणोमि यथामति।।१।।
साङ्ख्ययोगावभेदार्थौ[१] भक्तिर्भेदकरी हरौ।
स्नेहासक्तिव्यसनिनी तत्सिद्ध्यै स्वाङ्गवित्तजा।।२।।
व्यसनं मानसी सेवा[२] माहात्म्यज्ञानभक्तितः।।३।।

अथातः श्रीवल्लभाचार्याः स्वसिद्धान्तमुक्तावल्यां ''कृष्णसेवा सदा कार्ये''त्यादिना ब्रह्मवादसिद्धान्ततः सत्ये जगति कृष्णस्य सेवाभक्तिं निरूप्य तत्सिद्धौ मुख्यं फलं सपरिकरं निरूपयितुकामाः सेवाफलनिर्णयग्रन्थं सविवरणमाहुः।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

सेवना च प्रागुक्ता त्रिविधा, अत्यन्तरङ्गा अन्तरङ्गा बहिरङ्गा चेति प्रशब्देन सूच्यते, या नित्यश्रीस्वामिन्यन्तरङ्गस्य स्वस्वामिनः पुरुषोत्तमस्य 'प्रतिकृतिरूपस्य' काश्मीरचन्दनसुगन्धतैलाभ्यङ्गस्नापनपूर्वकशृङ्गारादिज्ञानक्रियारूपा साक्षादङ्गेषु मृदु संस्पृश्य लोकवत् सस्नेहं क्रियमाणा सैषा प्रथमा। मन्दिरपात्रसम्मार्जनोपलेपनचित्रकरणपूर्वकसिंहा सनादिशय्यास्तरणक्रीडनो पस्करणपीठखण्डाक्षिभृङ्गारादियोजनान्नादिपयः पाकसामग्रीसाधनज्ञानक्रियारूपा परिचर्या द्वितीया। पुष्पगन्धताम्बूलफलकन्दमूलशाकामान्नर ससंशोधनधनवसनभूषणसम्पादनज्ञान क्रियारूपा परिचर्या बहिरङ्गा तृतीयेति यादृशपदस्यार्थः। सैव स्वतनुवित्तजेति तत्रोक्ता। तत्सिद्धौ ''तत्र प्रेमासक्तिव्यसनात्मना परिणतायां मानस्यां सत्यां'' सेवकस्य यादृक् फलं तदुच्यते। यद्यपि तत्र ''ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन''मिति फलमुक्तं तथापि तदवान्तरमेवेति मुख्यं फलमुच्यत इत्यर्थः।

तदपि त्रिविधमिति सविवरणं निरूपयितुमाहुः।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः।।१।।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

विवरणमत्र **सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति। अलौकिकसामर्थ्यं** प्रथमायाः फलम्। **सायुज्यं** द्वितीयायाः। **सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु** 'अधिकृतः' तृतीयायाः। तत्रालौकिकस्य

१।ज्ञानेति पाठः, २।सैवेति पाठः।

भगवत इवालौकिकमेव ज्ञानक्रियाभ्यां सामर्थ्यं जगद्व्यापारवर्जं यत् तत्तथा। स्वेच्छया देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणैरेव सदा सेवापरैः सहितस्यात्मनो जीवनशक्तत्वं 'श्रुति'कुमारिकाणामिव, तत्परित्यजने च स्वेच्छयाशक्तत्वमित्यैहिकमन्त गृहगतानामिव। तान्कादाचित्कीस्वेच्छया'मुत्र' भगवल्लोकगमनशक्तत्वमित्यामुष्मिकं ध्रुवादेरिव तत्तथा। ''मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोहः हरे पद''मितिवाक्यात् स्पर्शमणिन्यायेन तेषामप्राकृतत्वेन त्यागासम्भवात् भगवदानन्दानुभवसामर्थ्यं यत् तस्यालौकिकस्य **दानेनाद्यो मनोरथः** उत्पन्नः प्रमाणाननुरोधी प्रमेयैकसाध्यो **मनोरथः** स्वाभिलषितरूपो ''मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु''रितिवाक्यात् तद्भजनानन्दानुभवश्च **सिध्येत्**। एतेन कालकर्मप्रकृत्यनधीनत्वं द्योतितम्। द्वितीयायाः फलं सायुज्यम्, तदपि द्विविधम्, रूढार्थकं यौगिकार्थकं च। तत्राद्यं ज्ञानमिश्रितानामेकत्वरूपम्, अभेदरूपं भेदात्यन्ताभावरूपमात्मनैक्यमित्यर्थः। 'शुद्ध' भक्तानामपरम्, सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यम्, तद्भक्तानां भेदतस्तद्दत्तसखित्वतस्तदानन्दानुभवात्, पूर्वत्र देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि विहायेह स्वात्मनैव केवलेन तदानन्दानुभवः, अपरत्र सहैव तैः स इति सार्थकतैषामन्यत्र नेति तारतम्यम्। तच्च स्पष्टमेव पार्षदानामसुरावेशिनां ज्ञानयोगिनां चोक्तम्। तृतीयायाः फलं **सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु।** अप्राकृतभूतभौतिकतृणलतौषधिवृक्षपशुपक्ष्यादिदेहः अधिकारात्मा, तत्र सेवोपयोगी बोध्यः। पूर्वत्रापरोक्षमेवात्र च परोक्षमिति भेदः। वैकुण्ठे मुख्येऽमुख्ये च। आदिपदेन स्वर्गादिषु विष्णोः स्थानेष्वपि तथेति निरूपितम्। वेति चार्थे ज्ञेयः। अत्र फलत्रयेपि न कालो नियामकः। काल इत्युपलक्षणम्, कर्मप्रकृत्योरपि न नियामकतेत्यर्थः। अत एव श्रीभागवते द्वितीये ''न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान् प्रधानं'' तृतीये ''न कर्हिचित्मत्पराः शान्तरूपे'' इति, कपिलेनोक्तं च ''नक्ष्यन्ति नो निमिषो लेढि हेति''रित्यादि।।१।।

तत्र सेवायां प्रतिबन्धकाभावः कारणमिति प्रासङ्गिकं प्रतिबन्धमपि त्याज्यत्वेन निरूपयन्ति।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्।।२।।

अत्र **बाधक**मित्येकवचनेन मिलितानामेव बाधकतेत्याशङ्क्य विवृण्वन्ति, **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमि**ति। अत्र**ोद्वेगः** साधारणः स त्याज्य एव। एवमुद्वेगं निरूप्य प्रतिबन्धभोगौ निरूपयन्तोऽनुरोधरूपस्य प्रतिबन्धस्यानिवार्यत्वेन पाठक्रममनपेक्ष्यार्थक्रमतो भोगं विवृण्वन्ति **भोगो द्विविध इति। लौकिकोऽलौकिकश्च। तत्र लौकिकस्त्याज्य एव, अलौकिकस्तु न,** तस्य फलानां मुख्यमध्यमसाधारणानां प्रथमे प्रविशतीति प्रथमे फलेऽलौकिकसामर्थ्येन प्रभुस्वरूपानन्दानुभवभोगे प्रवेशात्। एवं भोगं निरूप्य **प्रतिबन्धं** निरूपयन्ति **प्रतिबन्धोपीति**। स च साधारणोऽसाधारणश्च। साधारणः सेवासमये

लौकिकवैदिककर्मानुरोधरूपस्त्याज्य एव, स्वाधीनत्वात्। असाधारणो भगवत्कृतः, स सह्य एवेति भावः। ननु कथमेतेषां सिद्धानां त्याग इत्याशङ्क्याहुः **त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य** इति। साधनमत्र तज्जननहेतुभूतं यत् तत्परित्याग इत्यर्थः। नन्वावश्यकस्य लोकवेदसिद्धतया अशक्यत्यागत्वात् कथं त्याग इत्याशङ्क्य तदुपायं विवृण्वन्ति **तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्य** इति। सेवाया अवसरे त्याज्यः, अनवसरे विधेय इति चातुर्येणेत्यर्थः।।२।।

एवं साधारणप्रतिबन्धं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धं निरूपयन्ति।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्।।३।।

प्रभोरेव **अकर्तव्यं** स्वसेवाकारणमचिकीर्षितं चेत् तदा स्वस्य **गतिर्न हीति** निश्चयः। **तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावाये**ति। वक्ष्यन्ति चाग्रे **तदान्यसेवापि व्यर्थेति** भावः। नन्वासुरेष्वेवं न तु दैवे तथेत्याशङ्क्याहुः **तदा आसुरोऽयमि**ति। एवंविधप्रतिबन्धरूपलिङ्गेन स्वस्यासुरत्वमनुमेयमितिभावः। तत्रासुरत्वमागन्तुकं वा साहजिकमिति निर्धारार्थं विवेकः, साङ्ख्यज्ञानमिति केचित्। तेन शोकाभावमात्रं न तु मोक्षः।।३।।

पूर्वोक्तमेव निगमयन्ति।

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्।

भोगयोरपि पूर्वसमतामाशङ्क्य वैलक्षण्येनाहुः।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा।।४।।

प्रथमे अलौकिकसामर्थ्ये **भोगो** भजनानन्दानुभवरूपो **महान् सदा** स्वरूपतः साधनतः फलतश्चेत्यर्थः। पाठान्तरे अल्पो भोगः सविघ्नः सप्रतिबन्धः।।४।।

सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ।

अत **एवैता**विति विवृतौ। भगवत्कृतप्रतिबन्धे अन्यफलचिन्तया शोकः कदाचित् तस्य स्यादिति तदभावार्थं चिन्ता न कार्येत्याशयेनाहुः।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्।।५।।

भगवत्कृतप्रतिबन्धे। तत्र हेतुः। स्वस्य **संसारनिश्चयादिति।** संसारोऽहंममतया जन्मकर्मप्रवाहमार्गस्वरूपः, तस्य निर्धारणादित्यर्थः।।५।।

एवं प्रतिबन्धं विचार्य उद्वेगरूपप्रथमं प्रतिबन्धेन फलाभावे भगवतो दातृत्वाभावं **हेतुत्वेन निरूपयन्ति।**

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

अत्र आद्यफलाभाव इति विवृतम्। आद्येन वा प्रतिबन्धेन फलाभाव इत्यर्थः। नन्विति विरोधोक्तौ। **आद्ये उद्वेगरूपप्रतिबन्धे, भगवतः सर्वसमर्थस्यापि सेवाया** अमानसीत्वेन अनाधिदैविकीत्वे तत्प्रयुक्तः प्रभोः फलदातृत्वाभाव इत्यर्थः। एतदेव विवृण्वन्ति **तदा सेवा नाधिदैविकी**त्यादि। तृतीये लौकिकभोगे गृहमेव **बाधकम्।** गृहमत्र पत्न्यादिकं विष्णुबहिर्मुखमेव त्याज्यम्। अत एवोक्तमाचार्यैर्निबन्धे ''गृहं सर्वात्मना त्याज्य''मित्यादि।

एवं फलत्रयं प्रतिबन्धकत्रयं च प्रासङ्गिकं निरूप्य एतद्विचारमावश्यकत्वेन वक्तुमुपसंहरन्ति।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।।६ ।।

(इयं दातृता हरेः यद्वा भक्तितः मदुक्तिर्वा)। सेवा पूर्वोक्ता तत्रयी वा विचिक्त्येत्यर्थः। एतदतिरिक्तं **सर्वं मनोभ्रमः।** भक्तिमार्गे त्रिविधसेवाया एव पूर्वोक्तं फलत्रयं नान्यत्, प्रतिबन्धकं चोद्वेगादिकमेव न पापादिकं। ''स्वपादमूलं भजतः प्रियस्ये''ति भागवतवाक्यादिति भावः।।६।।

ननु भगवदीयैर्नेयं भाव्येत्युच्यतां किन्त्वन्यैरेवेत्याशङ्क्याहुः तदीयैरपि तदित्यादि।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

कलौ देशादीनामसाधकत्वात् तथा। पुष्टौ स्थितः प्रभुस्तु **नैव विलम्बयेत्।** मध्यस्थैरेवेह तथेति भावः।

एतदेव निमित्तमन्यत्राप्युपदिशन्ति।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ।।७ ।।

एतद्भावनेन मनसो भगवत्तत्त्वपरतायां गुणक्षोभोपि न भवितेति भावः। अत्र स्वसम्मतिरेव मानमाहुः **इति मे मतिरिति ।।**७।।

नन्वत्र काचित् कुतर्ककल्पना उत्पद्येत तदा कथं विचारणीयेत्याशमायामाहुः।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ।। ७।। ।।

स्पष्टार्थः।। ७।। ।।

इति श्रीशाचार्यवर्यमतमार्गानुवर्तिना।

सेवाफलं सविवृति विवृतं च यथामति ।।१ ।।

इतिमठेशश्रीनाथभट्टात्मजगोपीनाथसुतलक्ष्मणभट्टविरचितं सेवाफलविवृतिविवरणं समाप्तम् ।।

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम्।

विवरणटिप्पणीसमेतम्।[१]

श्रीमदाचार्यचरणान् सेवारसफलप्रदान्।
नमामि तद्रजोलेशलवस्पर्शसमीहया।।१।।
श्रीमदाचार्यचरणैस्त्रिधा सेवा फलत्रयम्।
निर्णीतं तत्र मे बोधस्तथाहि कृपयोच्यते।।२।।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

यादृशी सेवनेत्यस्य विवरणे **सेवायां फलत्रय**मिति। अयं भावः। भक्तिमार्गे पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन जीवेषु भगवदङ्गीकारस्त्रिधा। तत्रापि पुष्टिमार्गफलार्थं यद्वरणं तत्पुष्टौ मर्यादायामेव, न तु प्रवाहमार्गेपीति विवरणे स्फुटीकरिष्यत इति। तेषां साधनरूपा सेवापि त्रिधा प्रोक्ता। अतस्तादृशतत्प्रकारकसेवासिद्धौ **फलमुच्यते।** तत्किमित्याकाङ्क्षायामुक्तमम**लौकिकसामर्थ्यमित्यादि।** तत्र पुष्टिमार्गाङ्गीकृतस्य साधनदशायामाचार्योक्तप्रकारेण सेवाकरणे मानसीतत्सिद्धौ फलं साक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपं भवेदिति। तस्येदमेव **अलौकिकसामर्थ्यं** यदाधुनिकजीवस्य तादृशपूर्णालौकिकैश्वर्यवीर्यादिगुणवता समं साम्येन रतिः रसोद्बोधश्च भवतीति तथोक्तं विवरणे, न हि साधारणस्य तादृशेन महता सममेतत् कर्तुं शक्यम्, रसाभासहेतुत्वात्।

ननु पूर्वं मानससेवायाः सिद्धिः कथं तत्राहुः **अलौकिकस्ये**ति।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ।।१ ।।

''मानसी सा परा मते''त्युक्त्या सा सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपेत्य**लौकिकस्य** प्रभो**र्दाने** परमकाष्ठापन्नस्वरूपसम्बन्धाभिलाषरूपभावदाने सः आद्यः पुष्टिफलरूपः सर्वोत्कृष्टो **मनोरथः** सिध्येत्। मनोरथपदेन प्रेमासक्तिव्यसनसमल्पादिरूपः सन् सिद्धिं प्राप्नोति, फलसम्मुखो भवतीत्यर्थः। अत एव मनोरथपदमुक्तम्। इयमेव मानसीतत्सिद्धिः। तदुक्तं ''चेतस्तत्प्रवणं सेवे''ति। यद्यपि मानससेवासिद्ध्यै तनुजा वित्तजा च द्वे अङ्गे, तथापि मुख्यमङ्गं दानम्, यतस्तत्करणेपि यदा दानं भवति, तदैव तादृशी सा भवति, अन्यथा मर्यादामार्गीयभक्तानामपि निरन्तरं तत्करणे पुष्टिरूपायां तस्यां को विशेष इति

१ यद्यप्येतद्विवरणकृतां नाम न ज्ञायते तथापि जयगोपालभट्टकृततदुपन्यासादस्य प्राचीनत्वं निश्चीयते।

तद्भावोदये नैव सा भवेदित्यर्थः। तेन तत्करणेपि दानेनैव तादृशभावः सिध्येन्नान्यथेति ज्ञेयम्, परन्तु तत्कृतिस्तु सर्वदा कर्तव्या, अकरणे भावः क उद्भवेद्, विषयाभावाद्, अत एवाङ्गभूते ते उक्ते ।।१।।

ततः किमित्यत आहुः **फलमिति**।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

तादृशप्रचुरभावे सति फलं स्वरूपसम्बन्धरूपम्, **अधिकारः** अलौकिकदेहवयोगुणादिकं भवेत्, तत्राहुः **न** काल इति। अत्र **कालः** वयोवस्थादिसमयरूपः नियामको न भगवदिच्छयैव सर्वं लीलोपयोगि तदैव भवेत्, **न कालापेक्षा।** तादृशं प्रति भगवतोपि विलम्बासहिष्णुत्वात्।

एवं पुष्टिफलं निरूप्य मर्यादाफलं निरूपयन्ति। तथा हि, मर्यादामार्गाङ्गीकृतस्य माहात्म्यज्ञानपूर्वकसेवाकरणे भगवति माहात्म्यभावसहितस्नेहेन तदात्मतया **सायुज्यं** साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपे भवेन्न त्वक्षरे। तत्र तदालौकिकदानेच्छाऽभावात् स्वरूपसम्बन्धात्मकं फलं न भवेदित्यर्थः। यदा पुनः भगवान् कदाचिद् दातुमिच्छति तदा स्वस्वरूपात् पृथक्कृत्य तादृशं प्रचुरभावदानं कृत्वा फलं प्रयच्छति, यतोस्मिन्मार्गेपि दातृत्वाभिप्रायेणैव वरणकार्यत्वात्। एवं भक्तिहंसे स्फुटीकृतं श्रीमत्प्रभुचरणै''र्भक्तिमार्गीयभक्तकृतेत्यारभ्य, अत्रापवर्गवर्त्मनी''त्यन्तम्।

प्रवाहभक्तिमार्गलक्षणकथनेन व्यापिवैकुण्ठस्य लोकत्वेनाक्षरात्मकत्वादक्षर मुक्तिरेव फले, न तु पुरुषोत्तमसायुज्यम्। अक्षरमुक्तौ तु आद्यफलदानेच्छाऽभावात्तदर्थं वरणमेव नास्तीति नाद्यफलसम्भावनेति मर्यादातो हीनत्वमुक्तम्। पुरुषोत्तमसायुज्ये तत्सम्भावना वर्तत इति प्रवाहभक्तिमार्गसेवाफलादुत्कृष्टत्वम्। यत एतत्फलदानेच्छया यद्वरणं तन्मार्गद्वये एव, न तु प्रवाहमार्गे, तदप्युक्तं भक्तिहंसे ''विवरणे चास्ति प्रकारद्वय''मिति।

एवं सेवास्वरूपं साधनफलसहितं मार्गत्रयेपि निरूपितमिदानीं तादृशसेवासिद्धौ प्रतिबन्धकत्रयं निरूपयन्ति उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वेति।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ।।२।।

श्लोकविवरणे **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमि**त्यादि। एतत्रितयनिवारणे **त्रयाणां साधनपरित्याग** इति विवरणे विवृतम्। तत्रोद्वेगसाधनं लौकिकशोकदुःखादिकम्। तस्य भगवदिच्छाधीनत्वं ज्ञात्वा तत्त्यागेन तस्यापि त्यागो भवत्येवेति। 'चित्तोद्वेग'मित्युक्तत्वादत्र न विशेषतो विवृतम्। तथा अपरः **प्रतिबन्धः। स च द्विविधः। साधारणो भगवत्कृतश्च।** साधारणो **बुद्ध्या त्याज्यः**। बुद्धिस्तु यस्मिन्कृते सेवाप्रतिबन्धोऽभूच्चेत् स न कर्तव्य इति विचाररूपबुद्ध्या त्याज्यः। भगवत्कृतमग्रे वदिष्यन्ति। लौकिकभोगस्तु विषयरूपत्वात् बाधक इति तत्साधनवस्तुमात्रत्यागादेव तत्त्यागा इति तदेव त्याज्यमित्यर्थः। एवं तत्रयं त्याज्यमित्युक्तम् ।।२।।

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथापरम्।

एतत्रयाणां साधनपरित्यागेनैव **बाधकानां परित्यागो** भवतीति शेषः। **ननु** सेवायां वस्तुमात्रोपयोगात्तत्त्यागे कथं तन्निर्वाह इत्याशमायामाहुः **भोग** इति। **तत्रापि भोगे एकं** लौकिकं त्यजेदपरं नेति शेषः। यतस्तेषां स्वार्थमुपयोगे लौकिकत्वम्, भगदर्थमुपयोगे अलौकिकत्वम्, अतः स्वार्थं ते त्याज्याः, भगवदर्थमुपयोज्या इति भावः।

तदनन्तरमबाधकत्वमाहुः **निःप्रत्यूह**मिति।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ।।३।।

निःप्रत्यूहमिति प्रतिबन्धरहितं प्रत्युत साधकम् ।।३।।

एवं बाधकानां परित्यागे निर्विघ्नसेवासम्भवे तस्यैव भोगस्य प्रतिबन्धत्यागे च हेतुं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धे हेतुं निरूपयन्ति **अकर्तव्यं भगवत** इति।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ।।४।।

अस्य विवरणे **भगवत्कृतश्चे**त्यादि **विवेक** इत्यन्तम्। अस्यायमर्थः। यदि भगवतः तत्फलदानं न कर्तव्यं भवेत् तदा तादृशसेवायां सर्वथा सर्वप्रकारेणापि गतिर्नभवति। तत्र यथा तथा प्रतिबन्धकमेव भवेत्, न तु निर्वाहः। ननु स्वमार्गीयसेवायां तस्य भगवान् प्रतिबन्धं करोतु, परन्तु अन्यमार्गीयसेवायां न करिष्यतीति चेत्, तत्रोक्तं विवरणे **तदा अन्यसेवापि कृता व्यर्थेति**। प्रवाहादिमार्गेषु कृतापि व्यर्था। यतः सकलमार्गेषु फलदाता भगवानेव। तस्य त्वकर्तव्यमेवेतीति तथा। यदा यत्ने कृतेपि प्रतिबन्धकं भवेत् **तदा यथा तत्त्वनिर्धारो** भवेत् तथा कर्तव्यम्। तत्त्वनिर्धारः कथमित्याकाङ्क्षायां विवरणे विवृतम्। **आसुरोयं जीव** इति। एवं तस्य विवेकेन ज्ञानस्थितिरूपमेव साधनं मतम् यतः पूर्वमासुर एव जीवः। यथासुरदेहयुक्तम्लेच्छादिषु कस्यचिद्दैवजीवत्वात् भगवत्परता दृश्यते, तथासुरजीवस्यापि कदाचिद्दैववशाद्भगवद्भक्तसङ्गेन सेवायां प्रवृत्तिर्भवति, परन्तु आसुरे भगवतो दातृत्वाभावात्तत्र प्रतिबन्धकमेव जायते। यतस्तेषामन्यदेव फलम्। तदे ''वासुरी योनिमापन्ना'' इत्यादिनोक्तम्। तथापि भगवद्भक्तसङ्गानुभावात् ज्ञानमार्गेपि स्थितिरुक्ता ।।४।।

तत्रापि चेत् स्थितिर्न भवेत्तदा तत्पूर्वोक्तफलविषयिणी चिन्तापि सर्वथा त्याज्येत्याहुः **द्वितीय** इति।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ।।५।।

विवरणे **ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थं द्वितीय** इति। तत्र हेतुः। संसारनिश्चयादिति। स्वस्य पूर्वोक्तसंसाररूपस्य फलस्यैव निश्चयात् सा न कार्या, पुनस्तदाशोच्छेद एवेति सर्वथेत्युक्तम् ।।५।।

---

१ सविघ्नेतिश्लोकार्धो विवरणकृद्भिर्विस्मृतः, अथवा विवरणभागस्त्रुटित इति प्रतिभाति।

ननु यथा द्वितीयप्रतिबन्धे पूर्वोक्तप्रकारेण आसुरजीवस्य सर्वथा फलविषयिणी चिन्ता त्याज्या, तथा साधारणप्रतिबन्धेपि सा त्याज्या, अन्यथा सा कथं भवेदित्याशमानिरासायाहुः **न त्वाद्य** इति।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

आद्ये साधारणप्रतिबन्धे **दातृता भगवतो नास्तीति न** किन्तु वर्तते, परन्तु फलस्य कियज्जन्मानन्तरभावित्वात् तद् भवति। तदपि प्रतिबन्धकं साधारणं निवारयितुं शक्यम्। तेन भगवत्कृत एव तस्मिन् दातृत्वाभावो, न साधारण इति ज्ञेयम्। अतो यस्य आद्यफलदानार्थं मर्यादयाङ्गीकारः तस्य तथैव सेवाकरणे साधारणप्रतिबन्धश्चेद् भवेत्, तदा तन्निवारणेन सेवानिर्वाहात् पूर्वं सायुज्यफलं तदनन्तरं तत्फलं भविष्यतीति सा चिन्ता न त्याज्येति भावः। यस्य पुष्टौ अङ्गीकारस्तस्य तन्निवारणेन तादृशतत्सिद्धौ तत्फलं भवेदिति सा तथेत्यर्थः। एवं सति प्रवाहमार्गसेवायामपि सेवायाः साधनदृश्यमानत्वात् साधारणप्रतिबन्धे दातृत्वं भविष्यतीति शमानिरासाय **आद्यफलाभाव** इति विवृतम्। आद्यफलस्याभावो यत्रैतादृशे प्रवाहमार्गे तदर्थमङ्गीकार एव नास्तीति नाद्यफलसम्भावनापीति न दातृत्वम्। सा सेवापि नाधिदैविकी, तत्र पूज्यस्वरूपेपि नाधिदैविकत्वम्, किन्तु विभूतिरूपत्वमिति महद्वैलक्षण्यात् कुतः साम्यमिति ज्ञेयम्।

एवं साधारणप्रतिबन्धस्य व्यवस्थामुक्त्वा प्रथमवृत्तौ सर्वथा लौकिकभोगत्यागासम्भवात्, तत्रापि भगवतो दातृत्वाभावमाशङ्क्य तन्निवारणाय तद्व्यवस्थामाहुः **तृतीय** इति। तृतीये लौकिकभोगेपि दातृता नेति न, यत एतन्मार्गे द्वये तादृश एवाङ्गीकारः, किन्तु तत्र मूलभूतं साधनं यद्गृहं तद्बाधकमिति तत् त्याज्यमिति शेषः। तत्त्यागे सर्वथा भोगाभावात् प्रतिबन्धकाभावेन तादृशभगवद्भक्तसङ्गेन सेवानिर्वाहात् तत्फलमपि भवेदिति भावः। एतदेव विवरणे विवृतं **भोगाभावस्तदैवेति।**

अत्र कश्चित्पूर्वपक्षी शमते। तथा हि। स्वमार्गीयपरित्यागस्तु प्रेमासक्तिव्यसनात्मकभक्तौ सत्यां कर्तव्यो, न तु साधनभक्तौ। तदुक्तं सक्त्यासनिर्णये ''सक्त्यासवरणं भक्तौ'' ''अतोत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावह'' इति च। तत्र करणे विपरीतफलमपि भवेदित्यपि। प्रकृते तु तत्पूर्वमेव भोगाभावार्थं सेवानिर्वाहार्थं च त्याग उच्यत इति कथमेकवाक्यतायां विरोध इव प्रतिभाति ?

तत्रोच्यते। प्रथमं स्वमार्गीयभक्तिसिद्धौ मुख्यं कारणं सेवा। सा सेवा ''गृहे

स्थित्वा अव्यावृत्त्या गृहव्यावृत्त्यभावे न, प्रत्युत पुत्रकलत्रादीनां भगवदर्थमुपयोगेन स्वधर्मतःकरणे सिध्येत्, तच्चेदनुकूलं भवेत्, नो चेत् भजनप्रतिबन्धकत्वेन सर्वात्मना तस्य त्यागएवोचितः। अन्यथा तत्सङ्गेन पुत्रकलत्राद्युपभोगे स्वस्य भजनासम्भवे शरणगतिर्भज्येत, तदा सेवाऽभावे प्रेमासक्तिव्यसनात्मिका भक्तिरपि न भवेत्, तदभावे तन्मार्गीयपरित्यागोपि न, तदभावे फलाभाव एव च स्यादिति मार्ग एवोच्छिद्येत इति। तद्भोगाभावसिद्ध्यर्थं तथा तत्सेवासिद्ध्यर्थं च कथनम्, तदनुकूलतद्ग्रहणभिप्रायेणैवेति, न तत्राश्रमस्वीकारः, सेवाभानुपपत्तेः, साधनभक्तौ निषेधाच्च। एतदेवोक्तं तत्त्वार्थदीपेपि ''प्रतिकूले गृहं त्यजे''दित्यनुकूलतत्त्यागाभावाभिप्रायेणान्ते प्रेम्णि जाते अङ्गेपि यत्किञ्चित् भोगस्यापि बन्धकत्वात् तेनैव तन्नाशे सति ततो यथा साधारणप्रतिबन्धनिवारणेन सेवाकरणं तद्दानं च, तथा लौकिकभोगत्यागेनापि निर्विघ्नसेवाकरणे सति तत्फलं भवेदिति ज्ञेयम्। तत्र पुष्टिमर्यादायां भगवति लीलामाहात्म्यगुणादिभावेनैव प्रेम भवेत्, न पुष्टिरीत्येति तादृशस्य तादृशप्रेम्णा क्रमेण सर्वविषयत्यागे, ततो तप्तभावेन तदात्मकतया श्रीकृष्णे सायुज्यं भवेत्, ततो यदा दानेच्छा तदा स्वरूपात् पृथक्कृत्य तद्भावदाने तत्तत्फलानुभवं करयिष्यतीति मर्यादाङ्गीकारे आद्यफलदानप्रकार उक्तः। तदुक्तं तत्त्वार्थदीपे ''सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फल''मितिसायुज्यानन्तरं ध्रुवं फलं तदेवेतिभावार्थः। यस्य शुद्धपुष्टावङ्गीकारस्तस्य तदारभ्यैव पूर्वोक्तभोगादिप्रतिकूलगृहत्यागेनानुकूलगृहे स्थित्वा सेवाकरणे भावात्मिकैव प्रवृत्तिर्भवेत्, ततो यदा प्रेमासक्तिव्यसनानि भावात्मकतया पुष्टिनि भवेयुः, तदा तत्र स्थितौ यत्किञ्चिद्भोगसम्बन्धेनापि भावनाश इति तदभावेन तद्विगाढभावपोषादिना पूर्णविरहानुभवार्थं सक्त्यासनिर्णयोक्तप्रकारेण परित्यागः सक्त्यासः आवश्यक उक्तः। अन्यथा क्षणमात्रं भावान्तरसम्बन्धे भावशैथिल्याद् विरहानुभवाभावात् फलाभाव इति। ततस्तत्पूर्णानुभवे दशमावस्थया प्रतिबन्धकदेहनिवृत्तौ अलौकिकतत्प्राप्त्या तत्फलानुभवो भवतीति पुष्टिमार्गाङ्गीकारे फलदानप्रकार उक्तः। अत एव मर्यादायां 'मदर्थेऽर्थपरित्याग' इत्यादिना भोगाभावार्थं भगवत्प्राप्त्यर्थं च सर्वसमर्पणरूप एव त्याग उक्तः, न तु सक्त्यासप्रकारः। यतः सक्त्यासे तस्य पुष्टभावादतोपि तादृशैरेव सम्भोगो भवतीत्युक्तबाधकत्वात्। अतः कलौ स सक्त्यासः पश्चात्तापाय इति निषेधोप्युक्तसिद्ध एव। अग्रेपि त्वयोपभुक्तेपि विरोधो भवतीति। सक्त्यासस्तु तादृशभक्तावेवेत्युक्तम्, 'सक्त्यासवरणं भक्ता'विति मार्गद्वयभेदेन परित्यागस्य भिन्नत्वान्न कोपि विरोध इति ज्ञापितम्।

एवं मार्गत्रयसेवाफलभेदं त्यागभेदं च निरूप्योपसंहरन्ति **अवश्येय**मिति।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।।६ ।।

इयं पूर्वोक्ता त्यागपूर्वनिरूपिका मदुक्तिः **अवश्या भाव्या,** सर्वथा **सदा, भाव्या** कर्तव्या। अथवा **अवश्या** यद्यपि स्ववशेन कर्तुं न शक्यापि तथापि **भाव्या,** भावयितुं मनसि चिन्तयितुं योग्या। तत एव सर्वं भविष्यतीति सर्वथा कर्तृत्वमुक्तम्। आवश्यककरणे हेतुः एतदन्यत् **सर्वं मनोभ्रम** एव न तु फलम्। मदुक्तप्रकारातिरिक्तकरणे सर्वोत्कृष्टफलाभावो न, प्रत्युत मनसो भ्रम एवेत्यर्थः।

ननु कथं भ्रमः ? सर्वैस्तदेव क्रियते तत्राहुः **तदीयैरपीति।**

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ।।७ ।।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ।। ७ ।। ।।

तदीयैः पुष्टिमार्गातिरिक्तजीवैः भ्रमसम्बन्धिभिरपि **कार्यं तदेव,** सर्वत्यागपूर्वकं मदुक्तरीत्यैव भजनं कार्यम्। न क्रियते चेत् तदा अज्ञानाद्भ्रम एव, न तु फलम्। यदि तदीयैरपि तदेव कार्यं तदा यः पुष्टौ स्थितः कोपि मदुक्तप्रकारसेवाकरणजनितप्रेमासक्तिव्यसनादिभाववान् स तु विशेषतः क्षणमात्रमपि न विलम्बयेत्, मदुक्तकरणे विलम्बं न कुर्यात्। यदि विलम्बयेत् तदा पुष्टिभावान्तरत्यागाभावे विजातीयसङ्गेन भावशैथिल्यात् फलाभाव एव भवेदित्यर्थः। यतस्तादृशस्य स्वरूपव्यतिरिक्तवस्तुमात्रस्मरणस्यापि फलप्रतिबन्धकत्वम्। तदेवाहुः **गुणक्षोभेपीति**। अयं भावः। तादृशपुष्टिमार्गीयस्य व्यसनानन्तरं विरहानुभवार्थं त्यागे कृते स्वरूपसङ्गाभिलाषायाः प्राचुर्याद्विगाढभावेन देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानि स्वरूपात्मकान्येव भवन्ति, यतः विकलत्वास्वास्थ्यादिकं निरन्तरं भवति तदा तादृग्दशायां मध्ये कदाचित्तस्य भगवल्लीलागुणादिस्फूर्तिर्न भवेत्, तदा मनःस्वास्थ्येन भावशैथिल्यात् स्वरूपान्तरायो भवेदित्येव गुणक्षोभः गुणैः कृत्वा मनःस्वास्थ्यरूपोऽविकारस्तस्मिन्नपि एतदेव द्रष्टव्यम्, फले प्रतिबन्धकमेव, द्रष्टव्यमितिपदं प्रत्यक्षप्रमाणत्वेनोक्तम्। एतेन लीलागुणस्मरणस्य बाधकत्वं कथं वक्तुमुचितमित्याशमा निरस्ता। एतदेव सक्क्यासनिर्णये 'ज्ञानं गुणाश्चे'ति बाधकत्वमुक्तम्। एवं सति यत्र स्वरूपगुणस्मरणेपि फलाभावः तत्र गृहादीनां प्रतिबन्धकत्वेन त्यागविलम्बे फलाभाव इति किं वाच्यमिति भावः। अत एव सर्वथा भोगाभावस्त्याग एवेत्याशयेन विवृतावुक्तं **भोगाभावस्तदैवेति।** अत्र प्रमाणं **मे मतिरिति**। स्वस्यैव तादृक्प्रकारकानुभवात् स्वमतिरेवोक्ता। यदि मन्मतिप्रमाणत्वेन य एवं करिष्यति तर्हि तस्य सर्वं सुष्ट्वेव भविष्यतीति भावः। अकरणे बाधकमाहुः

कुसृष्टिरिति। अत्र एतत्प्रकारकसेवाफलनिरूपणरूपमदुक्तौ कथं किमित्यादिरूपा **कुसृष्टिश्चेदुत्पद्येत वै** निश्चयेन **स भ्रम** एवेति सा न कार्येत्यर्थः। करणे सर्वस्वहानिरेवेति निश्चय ।। ७।। ।।

एतद्विवृतेरर्थो यद्यपि विवृतौ महच्चरणैः।

तदपि तदेव हि गूढं दृष्ट्वा भावः स्फुटीकृतः कृपया।।१ ।।

सोपि तथेतरथा वा नो जाने सद्भिरीक्षणीयस्तत्।

कृपया च मार्जनीयस्तेन ततोहं विभूषणीयश्च।।२ ।।

श्रीमदाचार्यचरणे सरोजे मानसे मम।तिष्ठतां विकचे नित्यं तत्प्रभावोत्र भानुना।।३ ।।

इतिश्रीमदाचार्यकृतसेवाफलनिरूपणविवृतौ टिप्पणी समाप्ता ।।